दुर्गों की सूची

१. कालिञ्जर
२. चित्तौड़
३. ग्वालियर
४. आगरा
५. इलाहाबाद
६. गोलकुण्डा
७. लालकिला

भारत के सप्त दुर्ग

लेखक :—

श्री विश्वम्भर सहाय प्रेमी

पत्रकार

प्रकाशक :—

प्रेमी प्रिण्टिङ्ग प्रेस, मेरठ।

जुलाई १९४५

प्रथम बार १०००

मूल्य सजिल्द २ रु०

दो शब्द

मुझे अपने देश के अनेक प्रान्तों के कितने ही प्रमुख नगरों तथा ऐतिहासिक स्थानों को अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। मैंने अनेक बार अपने देश के महत्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक दुर्गों को देखा है। मेरे हृदय में कई बार यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं इन ऐतिहासिक दुर्गों के आवश्यक विवरण को संग्रह करूं और उसे अपने देश के युवकों के सम्मुख इस ढंग से उपस्थित करूं कि जिसे पढ़कर वे समझ सकें कि हमारे देश की समय समय पर क्या स्थिति रही और किस प्रकार से राजनैतिक परिस्थितियों ने बड़े बड़े साम्राज्यों को धूल में मिला दिया।

इस वर्ष जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में मुझे बुन्देलखण्ड के भूभाग में निर्मित कालिंजर दुर्ग को अवलोकन करने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उसी समय निश्चय किया कि अपने देश के कुछ प्रमुख दुर्गों के इतिहास को मैं पाठकों की सेवा में उपस्थित करूं। अब मैंने अपनी इस पुस्तक में भारत के सात दुर्गों के इतिहास को संग्रहीत किया है। यद्यपि यह कार्य अभी अपूर्ण है और इस दिशा में भारत के सात ही नहीं किन्तु सैंकड़ों दुर्गों के ऐतिहासिक तथ्य को ज्ञात करने की आवश्यकता है तथापि यह सात दुर्ग भी भारतीय संस्कृति, राजपूती शौर्य, राजपूत वीरांगनाओं के आत्म समर्पण, मुगलकालीन बादशाहों के वैभव तथा रंगरेलियों, नादिरशाह जैसे

निर्मम हत्यारे की लूट का सजीव चित्रण हमारे सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

कालिंजर दुर्ग का महत्व ईसा की दूसरी शताब्दी पूर्व से ही बढ़ गया था जब कि चन्द्रगुप्त मौर्य तथा सम्राट अशोक ने इस पर अपना अधिकार प्राप्त किया। इसके पश्चात् दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस दुर्ग का निर्माण फिर प्रारम्भ हुआ। इस दुर्ग पर महमूद गज़नी ने तीन बार आक्रमण किये परन्तु फिर भी हिन्दुओं के पारस्परिक कलह का अन्त न हुआ। इसके पश्चात् भी अनेक मुस्लिम बादशाहों ने समय समय पर आक्रमण किये परन्तु फिर भी एक हिन्दू नरेश दूसरे की सहायता करने के लिये उद्यत न हुआ। परिणाम यह हुआ कि मुगलकाल में भी इस दुर्ग पर भीषण गोलाबारी हुई और हिन्दू इसके विनाश को चुपचाप अवलोकन करते रहे।

चित्तौड़ दुर्ग का सम्बन्ध प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के वंशजों के साथ जुड़ा हुआ है। महारानी पद्मिनी के जौहर व्रत की घटना इस दुर्ग को सदैव अमर बनाये रखेगी। इस दुर्ग में राजपूत वीरांगनाओं ने एक बार नहीं किन्तु अनेक बार जौहर व्रत किया है। उन्होंने अपने शरीर पर यवनों की परछाईं तक न पड़ने दी और वे हंसते हंसते अग्नि में प्रविष्ठ होकर भस्मसात हो गईं। गोरा, बादल तथा जयमल, पत्ता जैसे वीरों ने इस दुर्ग की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया। राजपूताने के इस सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्ग का विवरण आज भी हमारे देश की महिलाओं

में अपने सतीत्व की रक्षा की भावना जागृत करता है परन्तु इसके साथ साथ यह दुर्ग उन देशद्रोहियों की कहानी भी सुना रहा है जिन्होंने पारस्परिक कलह के कारण यवनों का साथ देकर चित्तौड़ का पतन कराया।

ग्वालियर का दुर्ग भारतीय वैभव काल की एक अनुपम धरोहर है। सिसौदिया वंश के नरेशों ने इसमें अनेक विशाल राजमहल निर्माण कराये। वास्तु-स्थापत्य-कला की दृष्टि से यह दुर्ग बड़ा प्रसिद्ध माना जाता है। इस दुर्ग के अन्दर कई विशाल मन्दिर भी विद्यमान हैं। इस दुर्ग का सम्बन्ध बौद्ध तथा जैन धर्मावलम्बी राजाओं के साथ भी रहा है जिन्होंने इस दुर्ग में अनेक प्रस्तर मूर्तियां निर्माण कराईं। कला की दृष्टि से इस दुर्ग के राजमहल अपनी बड़ी प्रसिद्धि रखते हैं। इस दुर्ग का सम्बन्ध ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ भी रहा जिसने इस पर अपना आधिपत्य स्थापित करके इसे अपनी सैनिक छावनी का केन्द्र बनाया। इस दुर्ग के साथ झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई के जीवन की अंतिम घड़ियों का भी सम्बन्ध रहा है।

आगरा दुर्ग के निर्माण की योजना यद्यपि मुगल बादशाह बाबर ने बनाई परन्तु इसके निर्माण का श्रेय मुगल सम्राट अकबर को प्राप्त है। उसने आगरे में यमुना के तट पर इस दुर्ग को अपने राजमहल के रूप में प्रयोग करने की दृष्टि से बनवाया था। उसके पुत्र जहांगीर ने इसे अपने आमोद प्रमोद का विशेष केन्द्र बनाया। जहांगीर के पुत्र शाहजहां ने अपनी प्रियतमा मुमताज महल के

साथ अपने यौवन के अनेक सुखद वर्ष इस दुर्ग में बिताये परन्तु उसी को इस दुर्ग में अपने पुत्र औरंगजेब का बन्दी रहकर महान कष्टकारी जीवन भी व्यतीत करना पड़ा। औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहां के प्रति जो कठोर व्यवहार किया उसकी मूक कथा आज भी इस दुर्ग की एक मस्जिद तथा उसका समीपवर्ती छोटा सा भवन सुना रहा है।

इस पुस्तक का पांचवा दुर्ग इलाहाबाद में गंगा यमुना तथा सरस्वती तीन पवित्र धाराओं के संगम के समीप स्थित है। यह भी मुगलकालीन दुर्ग कहलाता है जिसे मुगल सम्राट अकबर ने निर्माण कराया था। इस दुर्ग का सम्बन्ध हिन्दुओं के पवित्र पातालपुरी मन्दिर से भी जुड़ा हुआ है। इस दुर्ग में सम्राट अशोक का एक स्तम्भ भी विद्यमान है। अक्षय वट के कारण इस दुर्ग की हिन्दुओं के हृदय में बड़ी प्रतिष्ठा है। अभी कुछ समय पूर्व कुम्भ के अवसर पर लाखों नर नारियों ने वट वृक्ष और पातालपुरी मन्दिर की जा का पुण्य लाभ किया था। मुगल सम्राटों के विनाश के पश्चात् इस दुर्ग पर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपना आधिपत्य स्थापित किया और उन्होंने इसे अपनी सेना का एक केन्द्र बनाया। अंग्रेजों के भारत से चले जाने के उपरान्त भारत सरकार ने भी इसे सैनिक क्षेत्र का रूप दिया हुआ है।

दक्षिण का गोलकुण्डा दुर्ग कुतुबशाही की एक अमर निशानी है इस दुर्ग में अनेक विशाल राजमहल बनाये गये परन्तु समय के परिवर्तन से आज वे सूने पड़े हैं। इस दुर्ग के साथ मुगल बादशाह

औरंगजेब के भीषण आक्रमण का इतिहास जुड़ा हुआ है। दक्षिण के स्वामी रामदास को इस दुर्ग की एक अन्धकारपूर्ण गुफा (कोठरी) में लगभग १८ वर्ष तक बन्दी बना कर रखा गया। इस लम्बी अवधि में उन्हें उस कोठरी से बाहर निकल कर सूर्य दर्शन करने की भी आज्ञा प्राप्त न थी। परन्तु स्वामी रामदास फिर भी वहां से बचकर निकल गये।

गोलकुण्डा दुर्ग का नाम कोहनूर हीरे ने विश्व भर में प्रसिद्ध कर दिया है। इसी गोलकुण्डे की खान से तो यह कोहनूर हीरा निकला था जिसे अनेक राजमुकटों में सुशोभित होने का अवसर प्राप्त हुआ और आज भी यह हीरा इंगलैंड की महारानी एलिजाबेथ द्वितीय के राजमुकट की शोभा बढ़ा रहा है। गोलकुण्डा की खानों से मूल्यवान मुक्ता, माणिक, तथा हीरे समय समय पर प्राप्त होते रहे हैं जिन्होंने दक्षिण की निजामशाही को वैभव शालिनी बनाया।

हमारी पुस्तक का अन्तिम दुर्ग लाल किला मुगल काल की अनेक वैभव पूर्ण गाथाओं को सुना रहा है। इसका निर्माण मुगल बादशाह शाहजहां ने कराया था। जिस समय उसका मन आगरे में न लगा उस समय उसने भारत की राजधानी दिल्ली में यमुना तट पर अपने राज्य महल के रूप में लाल किले का निर्माण कराया। इसके विशाल भवन, आमोद प्रमोद भवन, वगमा के स्नानागार तथा राज्य सभा के विशाल प्रांगण इसकी महत्ता को आज भी प्रगट कर रहे हैं। शाहजहां ने कई भवनों की दीवारों में मूल्यवान मुक्ता, माणिक जड़वाये। एक भवन की छत में उसने सोने चान्दी के फूलों द्वारा सजावट कराई परन्तु कौन जानता था कि नादिरशाह की

लूट से इन राजभवनों का वैभव लुट जायगा ? कौन जानता था कि इस लूट के पश्चात् रहे सहे वैभव की लूट अंग्रेज भी करेंगे।

इस दुर्ग में मुगलों के अन्तिम बादशाह बहादुरशाह के अभियोग की सुनवाई हुई। इस दुर्ग में आजाद हिन्द सेना के तीन प्रमुख सेनापति जनरल शाहनवाज, सहगल तथा ढिल्लन के विरुद्ध अभियोग की सुनवाई हुई। इसी दुर्ग में राष्ट्रपिता गांधी जी के हत्यारों के विरुद्ध चलाये गये अभियोग का निर्णय हुआ। इसी दुर्ग पर १५ अगस्त सन् १९४७ को भारत के हृदयसम्राट नेहरू जी ने तिरंगा झण्डा फहराकर स्वतंत्रता की घोषणा की।

इस पुस्तक की सामग्री एकत्रित करने में मुझे सरकारी गजेटियरों से विशेष सहायता प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त कालिंजर दुर्ग के सम्बन्ध में प्रिन्सिपल जगतसिंह जी इंटर कालिज अतर्रा तथा श्री गुप्त जी कालिंजर ने भी मुझे बड़ा सहयोग प्रदान किया।

मैं महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी का अत्यन्त आभारी हूं कि उन्होंने इस पुस्तक की प्रस्तावना लिखने की महती कृपा की। साथ ही उन्होंने ऐसे बहुत से सुझाव भी दिये जिनसे अन्य दुर्गों का विवरण लिखने में मुझे बड़ी सहायता मिलेगी।

यदि इस पुस्तक के पढ़ने पर देश के नवयुवकों के हृदय में अपने देश के प्राचीन दुर्गों का इतिहास जानने की इच्छा उत्पन्न हुई तो मैं अपने इस तुच्छ प्रयास को सफल समझूंगा।

ज्येष्ठ पूर्णिमा
१६-६-५४

विनीत:—
विश्वम्भर सहाय प्रेमी

भूमिका

विश्वम्भर सहाय प्रेमी जी की पुस्तक 'भारत के सप्त दुर्ग' बड़ी महत्व की है। हम अपने देश के प्रति केवल निराकार प्रेम नहीं कर सकते। वह तभी दृढ हो सकता है जब हमारे देश के भिन्न भिन्न अंगों में से किसी एक या कितनों का साकार रूप हमारे सामने विद्यमान हो और हमारे देश के प्रसिद्ध दुर्ग तो हमारे अतीत की बहुत सी सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ अविछिन्न सम्बन्ध रखते हैं।

कालिञ्जर के अजेय दुर्ग की महिमा यद्यपि बहुत से कानों में पड़ी होगी परन्तु कालिञ्जर दुर्ग कहां है, कैसे पहाड़ों में है, कितने आकार का है और कितनी बार उसने विदेशी आक्रमणकारियों के प्रयत्नों को असफल करने में हमारे वीरों की सहायता की, जिस समय तक इन सब बातों का पता न लगे, तब तक कालिञ्जर दुर्ग के महत्व को हम पूरी तरह से नहीं समझ सकते। प्रेमी जी ने कालिञ्जर दुर्ग के विवरण में इन सभी बातों पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है।

चित्तौड़ 'चित्रकूट' के दुर्ग के सम्बन्ध में लोग वहां के वीर सीसौदियों और पद्मिनी के जौहर व्रत और महान त्याग की गौरव गाथा सुनते सुनते औरों की अपेक्षा कुछ अधिक परिचित हैं परन्तु उसके पर्याप्त परिचय के लिये इस पुस्तक में काफी सामग्री दी गई है।

ग्वालियर 'गोपगिरि' का दुर्ग भी एक महान और प्राचीन ऐतिहासिक दुर्ग है जिसमे हमारी जातीय स्मृति निधियो की निधिया ही सम्बद्ध नहीं हैं, बल्कि वह स्वयं हमारी सजीव सांस्कृतिक निधियों का एक विशाल संग्रहालय है।

पुस्तक में कुछ मुगल कालीन दुर्गों का भी वर्णन किया गया है। इन दुर्गों के बारे में अलग से कहने की यहा कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि उनका वर्णन भी लेखक ने विस्तार से किया है।

मुझे तो इस ग्रन्थ से पूरा संतोष नहीं है क्योंकि दुर्गों के वर्णन के रूप में हम अपने देश के वर्तमान और अतीत की सुन्दर और विशद झांकी देखना चाहते हैं। मुझे आशा है कि प्रेमी जी 'सप्त दुर्ग' के सतम के मोह मे नहीं पड़ेंगे। हमारे विचार में बारह और बावन दुर्ग भी कम आकर्षक नहीं हैं। हिमालय के कांगड़ा आदि दुर्गों को लेकर उनके साथ दक्षिण के अनेक दुर्गों को सम्मिलित करते हुये प्रेमी जी इसका दूसरा खण्ड प्रकाशित करके हमारे जैसे जिज्ञासुओं की तृप्ति कर सकते हैं।

मसूरी
६-६-४४

राहुल सांकृत्यायन

कालिंजर दुर्ग

कालिञ्जर दुर्ग—
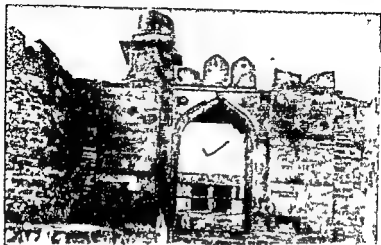
दुर्ग का प्रवेश द्वार
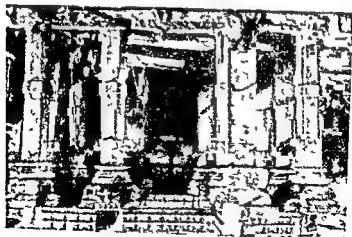
नीलकण्ठ मंदिर के सामने का दृश्य
यहां वर्ष में दो बार मेला लगता है।

कालिंजर दुर्ग

बुन्देलखंड की वीर-भूमि में कालिञ्जर का प्रसिद्ध दुर्ग आज भी अपनी ऐतिहासिक कथा को मूक वाणी से सुनाता दृष्टि पड़ता है। इस दुर्ग का सम्बन्ध केवल कलि-काल मे ही सम्बन्धित नहीं बताया जाता किन्तु इस प्रदेश के निवासी इसका सम्बन्ध सतयुग, त्रेता तथा द्वापर मे भी मानते हैं। बुन्देलखंड की भूमि में निर्मित किये गये दुर्गों में कालिञ्जर के दुर्ग का एक विशेष स्थान है।

कालिञ्जर जिला बांदा में बांदा से ३४ मील दूरी पर है। बांदा जनपद के साथ राम जैसे महापुरुष का गहरा सम्पर्क रहा है। वनवास काल में वे इस जनपद में विचरे। चित्रकूट पर निवास किया। किम्वदन्तियों के आधार पर वे कालिञ्जर क्षेत्र में भी समय समय पर निवास करते रहे।

इस दुर्ग की ऊंचाई समुद्र के धरातल से १२३० फिट है। दुर्ग की प्राचीर पांच मील के घेरे में है। इसकी बहुत सी दीवारें बिना किसी सीमेंट तथा चूने के प्रयोग के केवल पत्थरों से बनाई गई हैं जिनमें ऐसे पत्थरों का प्रयोग किया गया है जो इसमे पूर्व किन्हीं मंदिरों में मूर्तियों के रूप में थे या मंदिरों के द्वार आदि में प्रयोग किये गये थे। यह नहीं कहा जा सकता कि इन्हें किस काल मे कहां कहां से उठाकर लाया गया। इन दीवारों को देखने से इतना अवश्य प्रगट होता है कि मुस्लिम काल में ये दीवारें समय

समय पर टूटती तथा बनती रहीं और उनमें देव मंदिरों की लूटी सामग्री भी प्रयोग में आती रही।

श्रुतियों तथा पुराणों के आधार पर कहा जाता है कि यह दुर्ग चारों युगों से चला आ रहा है। सतयुग में इसका नाम रत्नकूट या कीर्ति, त्रेतायुग में इसका नाम महागिरि या महतगिरि, द्वापर में पिंगलगिरि, तथा कलियुग में कालिञ्जर है। शिवपुराण के अनुसार इस पर्वत पर काल को जीर्ण किया था। इसी कारण इसका नाम कालिञ्जर विख्यात हुआ। पुराणों में कालिञ्जर को देवतीर्थ तथा पितृतीर्थ भी कहा गया है। इसके देवहृद अर्थात पवित्र ताल में स्नान करना एक सहस्त्र गायों के दान के समान समझा जाता था। इन्हें तपःस्थान या अरण्य भी कहा जाता था।

महाभारत काल में कहा जाता है कि पाँचों पांडवों ने इस पर्वत पर निवास किया था। महाराज युधिष्ठिर १२ वर्ष के वनवास तथा एक वर्ष के अज्ञातवास काल में इस पर्वत पर भी रहे थे।

पर्वत पर कई स्थलों पर सीता सैया, राम सैया, सीता रसोई, आदि के चिन्ह भी बने हुये हैं परन्तु इनकी प्राचीनता में कोई तथ्य नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सब वस्तुयें राम और सीता की भक्ति स्वरूप बहुत समय पश्चात् निर्मित की गई।

तारीख फरिश्ता के अनुसार इस दुर्ग की आधारशिला केदार ब्राह्मण ने डाली थी। जो हिन्द का शक्तिशाली राजा था और कालिञ्जर में निवास करता था। इसने १६ वर्ष तक इस प्रदेश पर राज्य किया। इसके पश्चात् ईरानियों ने इस पर आक्रमण किये

राजा केदार ने ईरान के शासक केकाऊस व खुसरो की आधीनता स्वीकार करली।

राजा केदार से राजा शंकल ने यह दुर्ग छीन लिया। शंकल का तूरान के बादशाह के साथ युद्ध हुआ। शंकल अपने पुत्र पुर्त को राज्य देकर तूरान चला गया।

ईसा की तीसरी शताब्दी पूर्व से लेकर दूसरी शताब्दी पूर्व तक इस दुर्ग पर चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक का अधिकार रहा। अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। दुर्ग में इस समय भी बुद्ध की प्रतिमायें तथा बौद्ध कालीन अन्य प्रतिमायें आदि विद्यमान हैं। मोर्य वंश के पश्चात् यह दुर्ग कुशान वंश के राजा कनिष्क के अधिकार में आया। उनका शासन काल सन ७८ ई० के लगभग था। सन् २४६ ई० में कृष्णराज कलचुरिया हैहय वंशी ने कालिंजर पर विजय प्राप्त की थी। कृष्णराज के बाद चन्द्र श्री कालिंजर का राजा हुआ जिसे हराकर चन्द्र ब्रह्म ने कालिंजर को अपने अधिकार में कर लिया। इन्होंने दुर्ग की मरम्मत भी करवाई थी। ये चन्देल वंशी राजा थे॥

इलाहाबाद जिले के भीटा स्थान से अभी कुछ समय पूर्व एक मोहर (सील) प्राप्त हुई थी जिसमें गुप्त कालीन लिपि में 'कालञ्जर: भट्टारकस्य' शब्द अंकित है तथा उसपर पर्वत पर शिवलिङ्ग भी अंकित है। उससे प्रगट होता है कि किसी समय कालिञ्जर के किसी शिव मन्दिर अधिकारियों ने उसका प्रयोग किया हो।

८३६ ई० में कालिञ्जर मंडल प्रतिहार वंश के राज्य में

सम्मिलित था और कन्नौज के साथ साथ उनके राज्य का यह भाग बन गया था।

राष्ट्रकूट के प्राचीन लेखों से ज्ञात होता है कि इस दुर्ग का निर्माण दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही होने लगा था।

कन्नौज के शासक इस दुर्ग को बहुत समय तक अपने पास नहीं रख सके। खजूराहो से प्राप्त एक शिला लेख से प्रगट होता है कि चंदेल राजा यशोवर्मन ने जिसका शासन काल ६२५ से ६५० ई० तक है, कालिञ्जर पर सरलता से विजय प्राप्त की जो कि नील-कण्ठ शिव का निवास स्थान था और जो इतना ऊंचा था कि दोपहरी में भी सूर्य की गति में बाधक होता था।

यशोवर्मन के उत्तराधिकारी अपने आपको श्री कालिञ्जरा-धिपति कहते थे। उन्होंने इसको अपनी सैनिक छावनी भी बनाया था।

दसवीं शताब्दि के अन्त में सुबुक्तगीन और महमूद ने जो आक्रमण किये उनमें भी कालिञ्जर के नाम का उल्लेख मिलता है।

कालिञ्जर के राजा की सेना सीमान्त प्रदेश के साही शासकों के साथ साथ यवनों से लड़ी।

महमूद ने जब प्रथम बार कालिञ्जर पर आक्रमण किया तो उसका युद्ध विद्याधर के साथ अनिर्णीत समाप्त हुआ। ३ वर्ष पश्चात महमूद ने दोबारा दुर्ग पर आक्रमण किया और घेरा डाल दिया। अन्त में विद्याधर को संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। महमूद

भी आक्रमण से इतना थक-चुका था कि उसने विद्याधर की संधि की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इससे प्रतीत होता है कि महमूद यह समझ गया था कि कालिञ्जर का दुर्ग जीतना साधारण बात नहीं है।

इसी काल में चेदी वंश के राजा गंगेयदेव विक्रमादित्य और लक्ष्मी करण के भी कालिंजर के किले पर आक्रमण हुए और चंदेल शासकों को हराया। परन्तु कीर्ति वर्मन चन्देला ने इस हार का बदला लिया। उसकी यशोगाथा अजयगढ़ के एक शिला लेख पर मिलती है। इस वंश के अन्य राजा मदन वर्मन और उसके पौत्र परमर्दिन का नाम स्थानीय शिलालेखों में मिलता है। उसके समय में किले में नीलकण्ठ तथा चक्रस्वामिन की यात्रा-महोत्सव पर बहुत से नाटक भी खेले गये।

१२ वीं शताब्दी के अन्त में मुहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण करने शुरू किये। महमूद गजनी के आक्रमणों से भी भारतीय राजाओं ने कोई शिक्षा न ली थी और आपसी फूट बराबर चलती रही। इसका परिणाम ये हुआ कि मोहम्मद गौरी ने भारत पर आक्रमण किये और दिल्ली के शासक पृथ्वीराज चौहान को हराकर उस पर अपना अधिकार कर लिया। इसके बाद वह कुतुबुद्दीन ऐबक को अपना उत्तराधिकारी बना कर वापिस लौट गया। ऐबक ने सन् ११६६ तक लगभग समस्त उत्तर भारत पर अपना अधिकार कर लिया।

उत्तरी भारत में अब केवल चन्देलों का ही राज्य बचा था

उनका मजबूत किला कालिञ्जर उत्तरी भारत में सभी जगह प्रसिद्ध था। कुतुबुद्दीन ने १२०२ ई० में कालिञ्जर पर चढ़ाई की। चन्देल राजा परमर्दिन हार गया और उसने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार कर ली। किले का शासक मलिक हजबरुद्दीन हसन नियुक्त किया गया परन्तु परमर्दिन के लड़के त्रैलोक्य वर्मन ने एक दो वर्ष में ही किले पर पुनः अधिकार कर लिया। देहली के सुलतानों ने १२३३ ई० तथा १२५१ ई० में पुनः कालिञ्जर पर आक्रमण किये परन्तु वे सफल न हो सके।

१४ वीं तथा १५ वीं शताब्दी का कालिञ्जर का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता। ऐसा समझा जाता है कि यह देहली के सुलतानों के आधिपत्य में रहा।

१५३० ई० में मुगल बादशाह हुमायुं ने कालिंजर के किले को जीतने की चेष्टा की परन्तु उसे वापिस लौटना पड़ा। उसने सन १५३१ ई० में पुनः चढ़ाई की तथा वहां के शासक से प्रचुर मात्रा में सोना लिया। इसके १५ वर्ष बाद दिल्ली के शासक शेरशाह सूर ने १५४५ ई० में कालिंजर के किले पर आक्रमण किया। यद्यपि बुन्देलों ने बड़ी वीरता से सामना किया तथापि किला बादशाह के हाथ आ गया। इसी युद्ध में बारूद से जल जाने के कारण शेरशाह की मृत्यु हो गई। इस पहाड़ी पर उसकी कब्र भी बनी हुई है। इस पहाड़ी का नाम कब्र पहाड़ी या लड्ड पहाड़ी हो गया। शेरशाह की लाश को सहसराम जिला आरा में दफन किया गया था परन्तु इस पहाड़ी पर भी उसकी कब्र का चिन्ह बनाया गया। दुर्ग विजय के पश्चात शेरशाह का दामाद अमीनखां यहां का सूबेदार बना।

१५५० ई० में महाराज रामचन्द्र, रीवां नरेश ने अलीगां में यह दुर्ग मूल्य देकर अपने अधिकार में कर लिया। इसके पश्चात सन् १५६९ में उसने यह दुर्ग सम्राट अकबर के अधिकार में सौंप दिया। अकबर ने इसे इलाहाबाद सूबे के अन्तर्गत एक सरकार बनाया। अब्दुल फजल के कथनानुसार कालिंजर का महल २४५६४ बीघे में बना हुआ था। यहां से ६७०२४६ दाम मालगुजारी के रूप में लिया जाता था। कालिंजर का किला उस प्रदेश की सैनिक छावनी बनाया गया तथा उस समय के प्राचीन मन्दिर और भवनों की लूट के सामान से किले को दृढ़ किया गया। कालिंजर क्षेत्र की ओर से शाही सेना में ५०० पैदल, २० घुड़सवार तथा ७ हाथी सम्मिलित थे।

इसके बाद हम कालिंजर दुर्ग का उल्लेख बुन्देलखण्ड केसरी महाराजा छत्रसाल के उदय के साथ पाते हैं। उन्होंने १६६१ ई० में पन्ना को अपनी राजधानी बनाया तथा मुगलों से एक एक करके दुर्गों को छीनना आरम्भ किया। इसी में कालिंजर भी उनके अधिकार में आया। महाराज छत्रसाल की शक्ति इतनी बढ़ गई कि औरङ्गजेब की सेनाओं ने जिस समय भी उनपर आक्रमण किया तभी शाही सेना की हार हुई।

सन् १७३१ ई० में महाराज छत्रसाल की मृत्यु हो गई। इससे पूर्व बुन्देलों को यवनों के विरुद्ध मराठों की सहायता लेनी पड़ी। इस सहायता के बदले में छत्रसाल ने यह स्वीकार किया कि उसके राज्य का एक तिहाई भाग पेशवा को दे दिया जायगा। महाराज

छत्रसाल की मृत्यु के पश्चात् जो दो तिहाई राज्य शेष रहा वह उस के पुत्रों में विभाजित हुआ। पन्ना का राज्य जिसमें कालिंजर भी सम्मिलित था छत्रसाल के सबसे बड़े पुत्र हृदय शाह के हाथों में आया।

सन १७५८ ई० में बुन्देलों में ऐसी कौटुम्बिक कलह आरम्भ हुई जिसमें समस्त बुन्देलखण्ड प्रदेश युद्धस्थली बन गया और जिसके परिणामस्वरूप बुन्देलों की शक्ति क्षीण हो गई। अन्त में पारिवारिक बटवारे में गुमान सिंह बांदा का राजा बना और कालिंजर सरकार का प्रदेश उसके अधिकार में आया। किन्तु कालिंजर का किला उसके चचेरे भाई हिन्दुपत के हाथ में रहा। सन १७६४ ई० के लगभग अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने बुन्देलखण्ड पर चढ़ाई करने के लिये एक विशाल सेना भेजी किन्तु इस संकटकाल में समस्त बुन्देले सरदार संगठित हो गये और यवनों की भारी हार हुई। परन्तु युद्ध के उपरान्त बुन्देले अधिक समय तक संगठित न रह सके।

सन १७७६ ई० में राजा हिन्दुपत की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् उसकी दूसरी रानी से उत्पन्न सरनेतसिंह, सबसे बड़ा पुत्र तथा प्रथम रानी से उत्पन्न अनुरुद्धसिंह और धौकलसिंह के बीच उत्तराधिकार का संघर्ष छिड़ा। अनुरुद्धसिंह को उत्तराधिकारी नियत किया गया और अत्यन्त शक्तिशाली भाइयों बेनी हुजरी और कायम जी चौबे को उसका संरक्षक नियुक्त किया गया। कायम जी चौबे कालिंजर का किलेदार भी था।

१७८० ई० में अनुरुद्धसिंह की मृत्यु के पश्चात् बेनी हजूरी

ने दौकलसिंह का तथा कायम जी चौबे ने सरनेतसिंह का समर्थन किया। उत्तराधिकार के इस संघर्ष में चचरिया का भीषण युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों के प्रमुख सरदार मारे गये।

बुन्देलों के इस पारस्परिक संघर्ष तथा बुन्देलखण्ड की कमजोर राजनीति से लाभ उठाकर अनूपगिर हिम्मत बहादुर गोसाईं ने इस प्रदेश पर आक्रमण किया। इसमें उसको नवाब अली बहादुर व उसके चचेरे भाई गनी बहादुर से भी सहायता मिली।

इस सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि बांदा गजेटियर के अनुसार नवाब अली बहादुर पेशवा बाजी राव का पुत्र था जो एक मुस्लिम महिला से उत्पन्न हुआ था। यह महिला जैतपुर (बुन्देलखण्ड) के घेरे के उपरान्त पेशवा को प्राप्त हुई थी। अली बहादुर मराठा सेना में सेनापति था तथा गनी बहादुर सन् १७८६ ई० में सहारनपुर का प्रथम मराठा शासक नियुक्त हुआ। इस प्रकार मरहठों ने उस समय अपना प्रसार उत्तर प्रदेश के उत्तरी भाग तक कर लिया था।

मरहटों ने तथा अनुपगिर ने जो आक्रमण बुन्देलखण्ड प्रदेश पर किये उनसे कालिंजर का किला बचा रहा। १८०२ के लगभग अली बहादुर ने कालिंजर के किले पर आक्रमण किया किले पर विजय प्राप्त होने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई।

गनी बहादुर ने अली बहादुर के बड़े पुत्र शमशेर बहादुर के स्थान में छोटे पुत्र जुलफिकार अली को गद्दी पर बैठाकर स्वयं कालिंजर दुर्ग का घेरा डाले रखा। अब शमशेर बहादुर ने अपने

पिता की मृत्यु का समाचार मिला तो उसने कालिञ्जर पहुंचकर गनी बहादुर को अजय गढ के किले में कैद कर दिया और स्वयं मराठा तथा गुसाइयों की संयुक्त फौज के सेनापति के रूप में कार्य किया। पेशवा ने १८०३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ जो संधि बेसिन में की, उसी से सम्बन्धित एक पूरक संधि बुन्देलखण्ड के सम्बन्ध में भी की गई जिसके अनुसार पेशवा ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को बुन्देलखण्ड का इतना प्रदेश देने का निश्चय किया जिसकी वार्षिक आय ३६१६००० रु० हो। इस संधि के अनुसार हिम्मत बहादुर गोसाई ने अंग्रेजों का साथ दिया और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका विस्तृत राज्य अंग्रेजी शासन में आ गया।

१८०६ के आरम्भ तक कालिञ्जर का दुर्ग कायम जी चौबे के उत्तराधिकारी के हाथ में था जो यहां का किलेदार नियुक्त था। इस परिवार ने ब्रिटिश राज के प्रति वफादारी की शपथ ली हुई थी और किले के अतिरिक्त कालिञ्जर के आस पास के प्रदेश के लिये उसे सनद मिली हुई थी। गवर्नर जनरल द्वारा जारी की गई एक आज्ञा से पता लगता है कि १८१० और १८११ ई० में किलेदार ने अपने अनेक कार्यों द्वारा कम्पनी के साथ किये हुए समझौते को तोड़ दिया। इसके फल स्वरूप कम्पनी सरकार ने निश्चय किया कि किले पर से उसका अधिकार हटा दिया जाय।

१८१२ ई० में अंग्रेजों ने इस पर चढाई की। सेना का पड़ाव कालिञ्जर पहाड़ी पर पड़ा। अंग्रेजी सैनिकों ने सीढ़ी लगाकर दुर्ग पर चढने का प्रयत्न किया। तोप के गोले बरसाये गये परन्तु एक गोला

द्वार में लगा जिससे वह टूट गया। दुर्ग के रक्षकों ने ऊपर से पत्थर बरसाये जिससे अंग्रेजी सेना के अनेक सैनिक मारे गये। बाद में परस्पर संधि हो गई। ४ जौलाई १८१२ ई० को कुछ जागीर चौबे को ही दे दी गई, और किले पर अंग्रेजों का आधिपत्य हो गया। दुर्ग से कुछ दूरी पर कालिंजर से उत्तर की ओर डेढ़ मील दूर नाले के ऊपर मौजा मनीपुर के समीप अंग्रेजों की बहुत सी कब्र भी विद्यमान हैं। इन कब्रों का सम्बन्ध इन अंग्रेजों के साथ जुड़ा हुआ है जो विप्लव के समय मारे गये।

प्रथम द्वार—

दुर्ग के सात द्वार हैं। प्रथम द्वार पहाड़ की तलहटी से २०० फुट ऊंचा है। हमें बताया गया कि इस द्वार का जीर्णोद्धार औरंगजेब आलमगीर ने सन १६७३ ई० में कराया था। इसी कारण इस द्वार का नाम 'आलमगीरी दर्वाजा' प्रसिद्ध हुवा। इसमें फारसी में माद अजीम लिखा हुआ है। इस लेख के अनुसार इसके जीर्णोद्धार की तिथि १०८४ हिजरी निकलती है। एक पत्थर पर निम्न शब्द अंकित हैं—

शाह औरंगजेब दीन परवर,
शुद मरम्मत च' किला कालिंजर,
चु मुहम्मद मुराद अज हुकमश,
शाख्त दरहा मुहकमों खुशतर,
अज साल जुस्तमश मीगुफ्त,
मद अजीमें चु' सद असकन्दर।

दूसरा द्वार—

इस द्वार के पश्चात् दूसरा द्वार आया। इसका नाम गणेश द्वार है। मुसलमानों ने इसका नाम फाकिर घाटी दर्वाजा किया था। इसका कारण यह बताया गया कि इस तक पहुचने के लिये काफी सीधी चढाई करनी पड़ती है। इस द्वार के दाहिनी ओर गणेश जी की एक मूर्ति भी है जो लगभग डेढ फिट ऊंची है। सम्भव है कि इस मूर्ति के कारण ही इस द्वार का नाम गणेश द्वार पड़ा।

तीसरा द्वार—

तीसरे द्वार को बलखड़ी महादेव द्वार अथवा चड़ी द्वार कहते हैं। इस द्वार पर कई शिलालेख अंकित हैं जिनमें सम्वत ११६६, १५७०, १५८० तथा १६०० की शिव वन्दनायें हैं। इस द्वार के समीप एक सुन्दर भवन भी बना हुआ है जिसे राज महल कहते हैं। इस द्वार के बनाने में जिन पत्थरों का उपयोग किया गया वे सम्भवतः किसी कला पूर्ण भवन से लूटे गये प्रतीत होते हैं क्योंकि उन पर इस प्रकार की खुदाई अंकित है जो द्वार के सादगी के नमूने के साथ मेल नहीं खाती।

चौथा द्वार—

चौथे द्वार पर भी सम्वत् १५८० काल की एक शिव-स्तुति अंकित है इस द्वार का नाम वुद्ध भद्र द्वार है।

पांचवा द्वार—

पाचवां द्वार हनुमान द्वार के नाम से प्रसिद्ध है। इस द्वार के समीप एक पक्का तालाब भी बना हुआ है जिसे हनुमान कुण्ड

कहते हैं। हनुमान कुण्ड के समीप ही कुछ और कुण्ड तथा जलाशय हैं जो विभिन्न चट्टानों में प्राकृतिक रूप से बन गये हैं या काट कर बनाये गये हैं। इन कुण्डों के निकट कोई शिलालेख नहीं मिलते। हनुमान कुण्ड से हनुमान दरवाजे तक यद्यपि अनेक ऐसी शिलाएँ हैं जिन पर कुछ खुदाई की गई थी किन्तु अब इतनी धुंधली और विकृत हैं कि वह पढ़ने में नहीं आती।

छटा द्वार—

इस दुर्ग का छटा द्वार, लाल द्वार के नाम से प्रसिद्ध है। पांचवें तथा छटे द्वार के मध्य में सिद्ध की गुफा नाम का एक स्थान भी है। इसके समीप से ही एक मार्ग भैरव कुण्ड की ओर जाता है। पांचवें से छटे द्वार तक के मार्ग में जो खुदाई की गई उसमें काली, चण्डिका, लिंग आदि की प्रतिमाएं प्राप्त हुईं। छटे द्वार के किवाड़ अभी तक विद्यमान हैं। इस द्वार के दाईं ओर सम्वत् १५८० का तथा बाईं ओर संवत १५८६ के शिलालेख वर्तमान हैं।

भैरव कुण्ड मनुष्यों द्वारा निर्मित ४५ गज लम्बा एक तालाब है। इसके एक ओर का भाग चट्टानों की खुदाई करके बनाया गया है और बाकी दीवारें पत्थरों से बनाई गई हैं इस तालाब के पानी के धरातल से लगभग २० फुट ऊपर एक ठोस चट्टान में से काटी हुई भैरों की एक मूर्ति है जिसकी ऊंचाई १० फिट है।

सातवां द्वार—

थोड़ी ऊंचाई पर पहुंचने के पश्चात् दुर्ग का सातवां द्वार आता

है जिसका नाम बड़ा द्वार है। इस द्वार पर भी छोटे छोटे कई शिलालेख अंकित हैं। महादेव, शिवलिंग तथा पार्वती आदि की अनेक मूर्तियां भी यहां पर विद्यमान हैं। इस द्वार के समीप एक पहाडी में सीता कुंड नाम का एक झरना है इस झरने तक पहुँचने के लिये रोशनी का प्रबन्ध करना पड़ता है। झरने तक उतरने के लिये सीढियां बनी हुई हैं। यहां के निवासियों का कहना है कि इस झरने का जल रोग नाशक माना जाता है।

सीता सेज—

झरने से थोडी दूरी पर एक गुफा है जिसे सीता सेज कहते हैं। यहां के ब्राह्मणों का विश्वास है कि यहां पर सीता ने कुछ समय के लिये अपना निवास बनाया था जबकि रावण ने उनका अपहरण किया था और वह उन्हें लंका ले जा रहा था। प्रवेश द्वार के ठीक सामने पत्थर की एक शैय्या बनी हुई है जिसके एक सिरे पर गोल कटाई करके तकिया बनाया हुआ है। उसी के अन्दर प्रकाश के लिये कटाई करके दो दीपक रखने के स्थान बनाये गये हैं।

पाताल गंगा—

इस स्थान तक पहुचने के लिये हमें ४० फिट नीचे उतरना पड़ा। यह एक बड़े तालाब के रूप में है। जल तक पहुचने के लिये घुमावदार सीढियां बनी हुई हैं। यहां भी कई शिलालेख विद्यमान हैं इनमें से एक ६३६ हिजरी का हुमायू के नाम का है। पाताल गंगा लगभग ४० फुट लम्बी तथा २५ फिट चौड़ी है। पाताल गंगा नाम का कुण्ड एक प्राकृतिक दृश्य को उपस्थित करता है और ऐसा प्रतीत होता है कि चट्टानों के मध्य में प्राकृतिक रूप में किसी समय यह

न गया परन्तु इस तक पहुचने के लिये जो मार्ग इस समय बना हुआ है यह ऐसा प्रतीत होता है कि चट्टानों को काटकर बनाया गया है। इसके निकट सम्वत १५४० तथा १६६६ के दो शिलालेख मिलते हैं।

पाण्डु-कुण्ड—

पाताल-गंगा से चलने पर बाईं ओर पाण्डु-कुण्ड देखने को मिलता है। इस कुण्ड तक पहुचने में काफी कठिनाई उठानी पड़ती है। यह कुण्ड १२ फीट की गोलाई में बना हुआ है। इस कुण्ड में ऊपर से पहाड़ी झरने का पानी गिरता है जो पहाड़ के निचले भाग में बह जाता है। इसके समीप एक चट्टान पर कुछ शब्द से अंकित हैं जिनका अभिप्राय 'मनोरथ' बताया गया।

बुड्ढ़ा-क्षेत्र—

यह स्थान बुड्ढ़ी, बुड्ढ़ा तालाब के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसका एक भाग काफी ऊंचाई पर है जिसमें कई भवन भी बने हुये हैं। यह तालाब ५० गज लम्बा तथा २५ गज चौड़ा है और चट्टानों को खोद कर बनाया गया है। इसके चारों ओर सीढ़िया बनी हुई हैं हमें बताया गया कि चन्देलवंश के राजा कीर्तिब्रह्म ने इस तालाब में स्नान करके लाभ प्राप्त किया था। कहा जाता है कि इस तालाब के सोते के जल से उसका कोढ़ अच्छा हो गया था। उसके द्वारा ही यह तालाब पक्का बनवाया गया था।

भगवान-सेज—

सीता सेज के समान यह भी एक गुफा है जिसमें एक व्यक्ति

के सोने के लिये पत्थर के चट्टान की मेज व तकिया बना हुआ है। इसके समीप से सिद्ध की गुफा और भैरव की झरियां को जाने का मार्ग है। सिद्ध की गुफा से आगे बढ़ने पर किले का एक द्वार है जिसे पन्ना दरवाजा कहते हैं। भैरव की झरिया के निकट चट्टान में खुदाई करके बनाई हुई भैरव की एक नग्न प्रतिमा है जो कुण्ड से लगभग २० फीट ऊपर है। इस प्रतिमा को मिड़के अथवा मिड़के भैरव कहा जाता है। मूर्ति लगभग ८-६ फिट ऊंची है।

कालिंजर दुर्ग में इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि सम्वत् १५५० तथा १६०० के बीच में निर्माण, मरम्मत तथा सजावट का काफी काम किया गया। इस समय दुर्ग में कार्य करने वाले शिल्पियों में मनु विजय का नाम मुख्य बताया जाता है।

मिड़के भैरव से कुछ आगे बढ़ने पर तीन छोटी छोटी गुफाएं हैं जिन्हें फकीरों की गुफाएं कहते हैं। यह इतनी फिसलनी हैं कि इनमें कुछ समय के लिए बैठना भी छोटी मोटी तपस्या से कम नहीं समझना चाहिए।

पन्ना दरवाजा से आगे बढ़ने पर मृगधारा नामक स्थान आता है। यहां पर सात मृगों की मूर्तियां बनी हुई हैं। इसी के बांई ओर स्वच्छ तथा सुस्वादु जल मिलता है जो बराबर ऊपर से झर झर कर आता है। सम्भवतः यह ऊपर ऊंचाई पर बने हुए विशाल तालाब कोट-तीर्थ में से रिस रिस कर आता है।

कोट-तीर्थ—

यह लगभग १०० गज लम्बा मनुष्य द्वारा निर्मित एक विशाल

नालाव है। इसके समीप बहुत से भवन बने हुवे हैं। यहां पर पत्थरों की खुदाई के काफी सुन्दरतापूर्ण कार्य के अवशेष अब भी देखने को मिलते हैं। इस तालाब में पृथ्वी के सोतों का जल आता है। इसके समीप की पहाड़ियों पर मदार ताल है। एक ताल शनीचरी ताल के नाम से भी प्रसिद्ध है। यहां से नीचे पहाड़ी की तलहटी में सरसल गंगा नामक एक अन्य ताल है। इसमें ऊपर के जलाशयों या अन्य सोतों का पानी आता है।

वाराह अ तार—

दुर्ग में भगवान विष्णु की दो मूर्तियां भी दर्शनीय हैं, जिनमें उनको वाराह अवतार के रूप में प्रगट किया गया है। इनमें से एक मूर्ति मुख्य द्वार से नीलकंठ मन्दिर के मार्ग में है। यह मूर्ति नीली सी झलक के पत्थर की बनी हुई है और इसका निर्माण भी सफाई से किया गया है। वाराह के पैर टूटे हुए हैं। वाराह अवतार की दूसरी मूर्ति कोट तीर्थ के दक्षिण-पूर्व में कुछ दूर पर स्थित है। ये मूर्ति वहीं के स्थानीय पत्थर की बनी हुई है और काफी टूटी फूटी अवस्था में है क्योंकि यह पत्थर अधिक सख्त नहीं है।

कालिंजर के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि आरम्भ में इसकी इष्ट देवी किसी समय काली रही और फिर यहां शिव को इष्ट देव बनाया गया।

नीलकण्ठ का म न्दर—

दुर्ग में यह स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण तथा धार्मिक माना जाता है। नीलकण्ठ मन्दिर के ऊपरी भाग में पर्वत की एक

लूटा। मुगल काल में इस पर कई बार आक्रमण हुए परन्तु फिर भी बुंदेले—वे बुंदेले जिनकी रगों में वीरता का रक्त विद्यमान था—कभी एक निश्चय पर न पहुंचे। यही कारण था कि ऐसे एकान्त तथा दुर्गम स्थल पर निर्मित दुर्ग पर भी गोलाबारी होती रही और हिन्दू एक दूसरे की शक्ति को क्षीण करते रहे।

इस विशाल दुर्ग को देखने पर एक बात और स्पष्ट होती है कि हिन्दू शासक तथा राज्याधिकारी अपने अपने विश्वास के अनुसार मूर्तियों का निर्माण कराते रहे। उन्होंने समय समय पर अलग अलग अपने इष्ट देवों की कल्पना की और उनकी पूजा से ही वे अपनी मुक्ति समझते रहे। यही कारण है कि विभिन्न राजाओं ने इस दुर्ग में अपने विश्वास के अनुसार अलग अलग देवमूर्तियां स्थापित कीं। हो सकता है कि उनका यह विश्वास रहा हो कि उनका इष्ट देव शत्रुओं को पराजित करेंगे, यहां उनका आधिपत्य न होने देगा। परन्तु इतिहास और दुर्ग के भग्नावशेष इस बात का पूर्णतया खंडन कर रहे हैं। शत्रुओं ने दुर्ग को नष्ट किया, मूर्तियों को खंडित किया और उस पर अपना प्रभुत्व तथा अधिकार स्थापित किया। ऐतिहासिक काल के क्रम में यह विशाल दुर्ग कई बार कम्पायमान हुआ। कई बार इसकी वैभव श्री का विनाश हुआ।

स्वाधीनता के पश्चात् अब यह दुर्ग पुरातत्त्व विभाग के संरक्षण में आ गया है। वैसे इस भूमि तथा कालिंजर ग्राम पर उत्तर प्रदेश सरकार का शासन है। आज इस दुर्ग के खंडहर, विशाल द्वार तथा भवन अपने अतीत की स्वयं कहानी सुना रहे हैं।
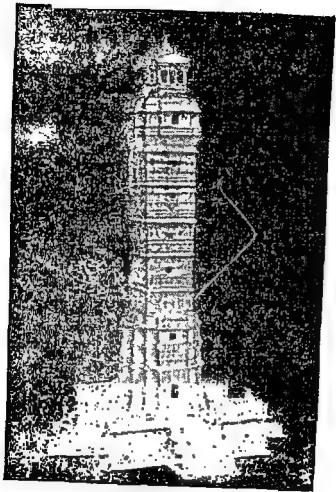
चित्तौड़ दुर्ग

चित्तौड़ का विजय स्तम्भ

चित्तौड़ दुर्ग

चित्तौड के साथ भारतीय इतिहास की अनेक गौरव गाथाओं का अटूट सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। चित्तौड़गढ़ की भूमि के कण कण से राजपूती शौर्य, बलिदान और पराक्रम की ध्वनि गुंजरित होती रही है और आज भी यह ध्वनि मंद स्वर से अपनी वीरतापूर्ण जीवन कथाओं को दोहरा रही है। इस पवित्र भूमि के साथ राजपूत वीराङ्गनाओं के अमर बलिदान का भी एक विस्तृत इतिहास जुड़ा है जो आज भी नारियों के हृदय में वीरता का रक्त संचारित करता है। इतना होते हुए भी चित्तौड़ के महान दुर्ग पर राजपूतों के शत्रुओं ने विजय प्राप्त की। इतिहास प्रगट करता है कि राजपूती गौरव और सम्मान को कलङ्कित करने वाले मेवाड़ के अपने ही भाई, देशद्रोही बनकर यवनों के सहायक बने। उन्होंने शत्रुओं के साथ गुप्त मंत्रणायें कीं और उन्हें चोरघाटी द्वारा दुर्ग में घुसाया।

प्रसिद्ध अंग्रेज इतिहासकार ने राजस्थान का जो विस्तृत इतिहास लिखा है, इसमें उसने उस काल की अनेक वीरतापूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया है। चित्तौड़ की यात्रा का वर्णन करते हुये वह लिखता है—

"मैं तब तक देखता ही रहा जब तक सूर्य की अन्तिम किरण चित्तौड़ पर नहीं पड़ी और इसके प्रकाश में उसका मटमैला और दुःख भरा स्वरूप सामने आ गया जैसे कि कंपकंपाती किरण ने दुःख से भरे चेहरे पर प्रकाश डाल दिया हो। ऐसा

कौन है जो इस सुनसान पड़े शानदार स्मारक को देखे—और इसके लुप्त गौरव के लिए दुःख की सांस लिये बिना रह जाये। परन्तु निरर्थक ही मैंने अपनी कलम अपने भावों को शब्दों में बांधने को उठायी, चूंकि जिधर भी नजर जाती है वही स्थल मस्तिष्क को अतीत कालीन चित्रों से भर देता है और विचार इतनी तेजी से आते हैं कि उनको कागज पर उतारना कठिन हो जाता है।"

इस दुर्ग की निर्भीक छाया में अनेक युद्ध लड़े गये। इसके प्रांगण में न जाने कितनी माताओं का वात्सल्य, कितनी सौभाग्यवती नारियों का सुहाग और कितनी भगनियों का भ्रातृत्व लुटा है। उन्होंने शत्रु के हाथों में पड़ने को राजपूती नारी के मस्तक पर कलंक समझा और यही कारण था कि उन्होंने अपने आपको हंसते हंसते आग की लपटों में झुलस कर नष्ट कर देना अच्छा समझा। आज भी इस दुर्ग के अन्तर्भाग में अनेक वीराङ्गनाओं के स्मृति चिन्ह विद्यमान हैं जो उनकी अमर कहानियां मूक वाणी में सुना रहे हैं।

चित्तौड़ दुर्ग का निर्माण मौर्य वंश के राजा चित्रांगद ने कराया था। इस दुर्ग का प्रारम्भिक नाम 'चित्रकूट' था परन्तु कुछ समय पश्चात् यही चित्रकूट शब्द, अपभ्रंश रूप में चित्तौड़ बन गया। यह दुर्ग एक पहाड़ी पर स्थित है जिसका ऊपरी भाग खुले मैदान के रूप में है। दुर्ग की लम्बाई लगभग ४ मील है और चौड़ाई आधा मील से कुछ अधिक है। दुर्ग के भीतरी भाग में

लगभग पचास छोटे-बड़े ताल हैं। दुर्ग के चारों ओर बीहड़ जंगल है और एक ओर तीव्रगति से एक नदी बहती है।

चित्तौड़गढ़ पर मौर्यवंशी राजा काफी समय तक शासन करते रहे। इस समय उन्होंने चित्तौड़गढ़ को अपनी राजधानी बनाया हुआ था। उन्होंने चित्तौड़ दुर्ग के दक्षिणी भाग में अपना एक राज्य प्रासाद भी बनाया हुआ था जिसके ध्वंसावशेष ही आज दिखाई पड़ते हैं। कहा जाता है कि वर्तमान मोरी तालाब किसी समय 'मौर्य-ताल' के नाम से प्रसिद्ध था। इस ताल के दक्षिणी भाग में ही भवनों के सब से अधिक खंडहर मिलते हैं।

कहा जाता है कि ईसा की सातवीं शताब्दी में गुहिल वंश के बप्पा रावल ने इस दुर्ग को मौर्य शासक राजा मान से जीता था और उस समय से आज तक इसपर उनके वंशजों की ही ध्वजा फहरा रही है।

इस दुर्ग के साथ अलाउद्दीन खिलजी तथा अकबर के आक्रमणों का एक विशेष इतिहास जुड़ा हुआ है जिनके सम्बन्ध में हम आगे चलकर चर्चा करेंगे।

राजपूताने की मेवाड़ भूमि का प्रत्येक कण राजपूतों के उष्ण रुधिर से तृप्त हुआ है। राजपूताने के वीरों ने अपने बलिदान से हिन्दुत्व को स्थिर रक्खा, चित्तौड़ के किले में राजपूतों ने अपना अपूर्व बलिदान देकर अपनी मातृभूमि की पवित्रता को स्थिर रखने का सदैव भरसक प्रयत्न किया। राजपूतों ने अपनी संस्कृति की रक्षा में अपने प्राणों से प्यारे बच्चों तक का पाषाण-हृदय होकर जो

बलिदान किया है, वह इतिहास के पन्नों में सदैव अङ्कित रहेगा। सुप्रसिद्ध इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड ने राजपूतों की वीरता के सम्बन्ध में राजपूताने के इतिहास में एक स्थल पर लिखा है—

शताब्दियों के भयकर, अत्याचार तथा विरोध के बाद भी जिस प्रकार राजपूतों ने अपनी सभ्यता, अपने पूर्वजों के आचार विचार तथा उनके शौर्य को बनाये रक्खा, उसी दशा में संसार की कोई दूसरी जाति उसका लेशमात्र भी बनाये रख सकती थी, ऐसा संभव नहीं दिखाई पड़ता। मनुष्य द्वारा मनुष्य पर बर्बर से बर्बर जो अत्याचार किये जा सकते हैं उन्हें सहने के बाद भी, तथा जिसका धर्म पूर्ण संहार का ही समर्थन करता हो, अपने ऐसे विरोधी की शत्रुता का सामना करके भी, जिस प्रकार राजपूतों ने अपना धैर्य बनाये रक्खा— आपत्ति के समय झुक गये और उसके निकल जाने के बाद पुनः उठ खड़े हुए, और जिस प्रकार अपनी साहस रूपी तलवार को विपत्ति रूपी सान पर अधिकाधिक तेज किया, मानव जाति के इतिहास में राजस्थान के राजपूत ही उसके एकमात्र उदाहरण हैं। ब्रिटेन में एक ही युद्ध में साम्राज्य बन गये और मिट भी गये। विजितों के आचार विचार और धर्म, विजयी के धर्म तथा आचार विचार के साथ सम्मिलित हो गये। इसके विपरीत राजपूतों को देखिये। यद्यपि देश का बहुत बड़ा भाग उनके हाथ से निकल गया तथापि उनके धर्म तथा आचार विचार आदि अब तक बने हुए हैं। . . . एक मेवाड़ ही उस धर्म का पवित्र आश्रय स्थल बना रहा। उन्होंने अपने सुख के लिये अपने सम्मान में कमी न आने दी और फिर भी आज वह राज्य पूर्ववत् ही बना

है। वीर समरसिंह के प्रथम बलिदान के समय से इस वीर घराने के राजाओं तथा राजपूतों ने अपना सम्मान, धर्म और स्वातंत्र्य बनाये रखने के लिये पानी की तरह रुधिर बहाया है।"

कर्नल टाड के इस कथन से यह बात स्पष्ट होती है कि राजपूत चाहे पारस्परिक कलहवश एक दूसरे को क्षति पहुचाते रहे परन्तु उनमे फिर भी अपने देश और अपनी संस्कृति की रक्षा की चाह रहती थी। वे गिर गिर कर संभलते रहे। उन्होंने विनाश में से भी जीवन प्राप्त करने का यत्न किया। राजपूतों ने अरावली और बुन्देलखण्ड की बीहड़ पहाड़ियों और राजपूताने के रेतीले भयावने मैदानों मे कठोर से कठोर, आपत्ति का सामना करते हुये नये राज्यो का निर्माण करने का यत्न किया और उन्होंने हिन्दू धर्म तथा सभ्यता को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया। वे बार बार हिन्दुओं की बिखरी हुई शक्तियों को संचित करते रहे।

राजपूतों के अनेक विजेताओं के कई बार साम्राज्य स्थापित हुये परन्तु वे थोड़े समय पश्चात् ही मिट गये। परन्तु राजपूत मर कर भी जीवन पाते रहे और लड़कर भी संभलते रहे। राजपूतों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि यदि किसी राजपूत राजा ने पारस्परिक कलहवश किसी विदेशी का साथ दिया तो उसके वंशज पुनः संभले और उन्होंने विदेशियों की शक्ति को क्षीण करने के लिये तलवार उठाई। इस प्रकार की अनेक घटनायें चित्तौड़गढ़ के इतिहास के साथ जुड़ी हुई हैं।

चित्तौड़ का दुर्ग राजस्थान ही नहीं किन्तु भारत के इतिहास में एक विशेष स्थान रखता है। इस दुर्ग में केवल पुरुषों ने ही नहीं

किन्तु स्त्रिया और बच्चों ने भी अपने शौर्य तथा मातृभूमि-प्रेम का परिचय दिया है। राजस्थान इतिहास के लेखक श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी ने एक स्थल पर लिखा है—

"यहा असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए अनेक बार असि-धारा रूपी तीर्थ में स्नान किया और यहा कई राजपूत वीराङ्गनाओं ने सतीत्व रक्षा के निमित्त जौहर की धधकती हुई अग्नि मे कई अवसरों पर अपने प्रिय बालबच्चों सहित प्रवेश कर जो उच्च आदर्श उपस्थित किया वह चिर स्मरणीय रहेगा। राजपूतों के ही लिये नहीं किन्तु प्रत्येक स्वदेश प्रेमी हिन्दू संतान के लिये क्षत्रिय रुधिर से सींची हुई यहा की भूमि के रज कण भी तीर्थ रेणु के तुल्य पवित्र है।"

महारानी पद्मिनी के जौहर-व्रत का इतिहास इस दुर्ग के साथ विशेषरूप से जुड़ा हुआ है। उसने भारतीय नागरिकों में सतीत्व रक्षा की जो अनूठी भावना जागृत की, उसी का यह फल है कि भारतीय नारी महान से महान संकट में भी अपना सतीत्व सुरक्षित करने का यत्न करती है और समय पड़ने पर क्षणमात्र मे अपना जीवन सतीत्व की वेदी पर न्यौछावर कर देती है।

दुर्ग मे प्रवेश—

उदयपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन से लौटने पर हमें अपने कुछ साथियों सहित गुरुकुल चित्तौडगढ में निवास करने का अवसर प्राप्त हुआ। कुलवासियों के सहयोग से हमें यह ऐतिहासिक दुर्ग देखने को मिला। समय की बचत करने के लिये हमने अपने

साथियों सहित चोर घाटी से प्रवेश किया। चोर घाटी तक पहुंचने के लिये दुर्ग की प्राचीरों के समीप बहने वाले नदी की धारा को पार करना पड़ा। नदी का जल उस समय केवल दो ढाई फुट था। परन्तु धारा का प्रवाह बड़ा तीव्र था। चोर घाटी पर पहुंचकर हमारे साथी एक एक करके दुर्ग में प्रवेश करते रहे। हमारे हृदय में बार बार यह विचार आता रहा कि यदि शत्रुओं को अपने ही आदमी इस चोर घाटी का भेद न देते तो क्यों इतना विशाल दुर्ग शत्रुओं के हाथ में पड़ता।

यहां यह बात स्पष्ट दिखाई पड़ी कि यदि राजपूतों को इस बात का तनिक भी आभास मिल जाता कि मुसलमान घाटी को पार करके दुर्ग में प्रवेश कर रहे हैं तो वे शत्रु पर अवश्य गोलाबारी करते क्योंकि यह स्थल ऐसा नहीं था कि शत्रु सरलता से दुर्ग में प्रवेश कर लेता। ऐसा प्रतीत होता है कि शत्रु के सैनिकों के एक बड़ी संख्या में प्रवेश पा लेने पर दुर्ग के सैनिकों तथा रक्षकों को उनके आक्रमण का बोध हुआ।

पद्मिनी का जौहर –

हमारी सबसे प्रबल इच्छा उस पवित्र स्थल को देखने की थी, जहां महारानी पद्मिनी के साथ सहस्रों वीराङ्गनाओं ने चित्तौड़ के प्रथम जौहर में अपने प्राणों की आहुतियां दे डाली थीं। इस स्थल के समीप बहुत से भवन बने हुये हैं जो अत्यन्त जीर्ण हो गये हैं। महाराजा सज्जनसिंह ने इन महलों का जीर्णोद्धार कराया था। ये भवन महारानी पद्मिनी के महल के नाम से पुकारे जाते हैं। इनके

समीप एक विशाल ताल है जो महारानी पद्मिनी का ताल कहलाता है।

पद्मिनी के सम्बन्ध में इतिहासकारों में काफी मतभेद रहा है। प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मुहीउद्दीन के शिष्य मलिक मुहम्मद जायसी ने चित्तौड़ की महारानी पद्मिनी को अपनी कथा का आधार मानकर 'पद्मावत' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की। इस काव्य ग्रन्थ के अनुसार महारानी पद्मिनी सिंहल द्वीप के राजा गंधर्वसेन की पुत्री थी। इनकी माता का नाम चम्पावती था। चित्तौड़ के राजा रतनसेन से पद्मिनी का विवाह हुआ था। राजा रतनसेन के दरबार में राघव चेतन नाम का व्यक्ति था। किसी कारण से राजा उसपर क्रोधित हो गया और उसने उसे अपने राज्य से निकाल दिया। राज्य से निकलने पर राघव चेतन दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन से जा मिला। उसने बादशाह से पद्मिनी के रूप की प्रशंसा की जिसे सुनकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी। आठ वर्ष तक चित्तौड पर घेरा रहा सुलतान अलाउद्दीन राजा रतनसेन को धोखे से पकड़ दिल्ली ले गया। वहां से उन्हें छुड़ाया गया फिर घमासान युद्ध हुआ। बादल बड़ी वीरता से लड़ा परन्तु दुर्ग अलाउद्दीन के हाथ लगा। परन्तु दुर्ग में प्रवेश करने पर उसे पद्मिनी की राख ही देखने को मिली। इसी कथा को जायसी ने आध्यात्मिक कथा का एक रूपक बतलाया है।

जायसी द्वारा वर्णित कथा को मुहम्मद कासिम फ़िरश्ता ने अपनी पुस्तक 'तारीख फ़िरश्ता' में थोड़ा परिवर्तित करके

इतिहासिक घटना का रूप दे दिया और भूल से पद्मिनी को राय रतनसेन की कन्या लिख दिया।

विदेशी इतिहासकार कर्नल जेम्स टाड ने राजस्थान के इतिहास में इस घटना पर काफी लिखा है। उसके लेख का सारांश इस प्रकार है—विक्रमी सम्वत् १३३१ (१२७४ ई०) में चित्तौड़ के सहासन पर लखमसी (लक्ष्मणसिंह) बैठा। वह अभी बालक था। उसकी ओर से राज्य का कार्य उसके चाचा भीमसी (भीमसिंह) करते थे, वे बड़े साहसी, बुद्धिमान और बलवान थे। उन्होंने अनेक बार शत्रुओं को पराजित किया। उनका विवाह सिंहल द्वीप के राजा हम्मीर सिंह चौहान की पुत्री पद्मिनी के साथ हुआ जो अत्यन्त रूपवती थी।

पद्मिनी के अनुपम सौन्दर्य का वृतान्त दिल्लीपति सुलतान अलाउद्दीन ने सुना। वह अपनी विशाल सेना के साथ चित्तौड़ आया। राजपूतों से उसका भीषण युद्ध हुआ। एक ओर देशभक्त मतवाले राजपूत थे और दूसरी ओर वासना से अंधा अलाउद्दीन। भयंकर युद्ध में जब अलाउद्दीन ने कोई सफलता न देखी तो उसने कपट का आश्रय लिया। राजा भीमसिंह के पास उसने संदेश भेजा कि मैंने रानी पद्मिनी के अलौकिक रूप की प्रशंसा सुनी है, यदि मुझे एक बार दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब दिखा दिया जाय तो मैं सेना सहित दिल्ली लौट जाऊगा। राजा भीमसिंह ने इस बात को स्वीकार कर लिया। महारानी पद्मिनी का प्रतिबिम्ब उसे दिखा दिया गया। इसके पश्चात् राजा भीमसिंह अलाउद्दीन

के साथ दुर्ग के बाहर तक आया। अलाउद्दीन ने उसे कैद कर लिया और राजपूतों को कहला भेजा कि जब तक मुझे पद्मिनी प्राप्त न होगी, तब तक भीमसिंह का छुटकारा न होगा।

पद्मिनी ने इस संकट काल में अपने चचेरे भाई बादल के पास सहायनार्थ रक्षाबंधन भेजा। बादल अपने पिता गोरा के साथ चित्तौड़ आया। उसने भीमसिंह को छुड़ाने की प्रतिज्ञा की। इसके पश्चात् गुप्त मंत्रणा की गई। सात सौ पालकियों में सशस्त्र सैनिकों को बिठाया गया। कहारों का भेष धारण किये प्रत्येक पालकी के साथ छः छः वीर राजपूत थे। पालकियों के साथ पद्मिनी भी गई। पद्मिनी की तरफ से अलाउद्दीन के पास यह संदेश भेजा गया कि वह भीमसिंह से एकान्त में आधा घंटा भेंट करने का अवसर दे दे। काम वासना में अंधे हुये बादशाह ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। जिस समय पद्मिनी तथा भीमसिंह में वार्तालाप हो रहा था, राजपूत वीर एक पालकी में उन्हें बिठाकर चल दिये और शेष वीरों ने अपने अस्त्र शस्त्र संभालकर आध घंटा बीत जाने पर अलाउद्दीन की सेना के साथ युद्ध प्रारम्भ कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। अलाउद्दीन को भारी क्षति उठानी पड़ी और वह दिल्ली वापिस चला गया। इस युद्ध में वीरवर गोरा और पांच सहस्त्र राजपूतों का बलिदान हुआ।

१२६० में अलाउद्दीन ने अपार सेना लेकर फिर चित्तौड़ दुर्ग पर आक्रमण किया। राजपूतों ने इस बार विजय की आशा छोड़ दी। परन्तु उन्होंने पराधीनता स्वीकार करने से अच्छा युद्ध में मर

जाना श्रेयस्कर समझा। विजयी विधर्मी कहीं कुल कामनियों को अपमानित न करे, इस भय से वीराङ्गनाओं ने जीते जागते अग्निकुण्ड में प्रवेश करके 'जौहर' करने का निश्चय किया। महारानी पद्मिनी के प्रासाद के पार्श्व की एक अंधकारमय सुरङ्ग में अग्निकुण्ड प्रदीप्त किये गये और उसी में इन वीराङ्गनाओं ने अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। राजपूत वीरों ने दुर्ग के फाटक खोल दिये और वे शत्रु सेना के साथ लड़ते लड़ते कट मरे।

प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने 'राजपूताना का इतिहास' ग्रंथ में इस कथा को अविश्वसनीय बताया है और लिखा है कि ऐसा प्रतीत होता है कि जेम्स टाड ने इस कथा को भाटों के कथनानुसार अपने इतिहास में लिख दिया है। ऐतिहासिक तथ्य कुछ भी हो परन्तु इतना मानना पड़ेगा कि महारानी पद्मिनी ने अपनी अन्य सहेलियों के साथ अग्नि में प्रवेश करके अपने प्राण न्यौछावर किये।

बंगभाषा के सुप्रसिद्ध नाट्याचार्य द्विजेन्द्रलाल राय ने मेवाड़ भूमि की महिमा का वर्णन करते हुये लिखा है—

> है मेवाड़ पहाड़ ये जिसकी लाल ध्वजा फहराती है।
> दर्प पुराना चूर किया है यवनों का बतलाती है॥
> धधकी रूपाग्नि पद्मिनी की जहां प्रबल चहुं ओर।
> कूद पड़ी थी जिसमें सेना यवनों की घनघोर॥
> है मेवाड़ पहाड़ यही जहां लाल हुआ है नीर।
> रक्त बहा मर मिटे यहां हैं लाखों क्षत्री वीर॥

पन्ना धाय—

चित्तौड़ के साथ पन्ना का नाम भी सदैव स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा जिसने अपने हृदय के टुकड़े का रक्त देकर चित्तौड़ के भावी महाराजा के कारण मृत्यु की भेंट चढ़ा दिया। पन्ना की घटना को उपस्थित करने से पूर्व उस समय के इतिहास पर भी हमें एक दृष्टि डालनी चाहिये। महाराणा सांगा के परलोक वास के पश्चात् चित्तौड़ पर आपत्तियों के बादल मंडराने लगे। उस समय ऐसा कोई भी सशक्त व्यक्ति नहीं था जो राजपूतों की बिखरी शक्ति को पुनः संगठित कर देता। राणा का ज्येष्ठ पुत्र रत्नसिंह भी गृह कलह में मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई विक्रमादित्य चित्तौड़ के सिंहासन पर बैठा परन्तु वह बड़ा दुष्ट प्रकृति का था। सभी राजपूत सामन्त उसके विरुद्ध हो गये। इसी बीच गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने चित्तौड़ पर आक्रमण कर दिया। रक्षा का कोई उपाय न देखकर राजमाता कर्मवती ने उससे सन्धि कर ली।

परन्तु गृह कलह फिर भी शान्त न हुआ। बहादुरशाह ने कुछ समय पश्चात् चित्तौड़ पर पुनः आक्रमण कर दिया। राजमाता कर्मवती ने सरदारों को पुनः ललकारा और अपने नेतृत्व में उस वीराङ्गना ने शत्रु से युद्ध करने का निश्चय किया।

राजवंश की रक्षा के लिये राणा विक्रमादित्य और राणा सांगा के छोटे पुत्र उदयसिंह को बूंदी भेज दिया गया। बाघसिंह को महाराणा का प्रतिनिधि बनाया गया। हाड़ी रानी कर्मवती के साथ कितनी ही देवियों ने अपने सतीत्व की रक्षार्थ 'जौहर करके' अपनी

प्राणाहुति दे डाली। सहस्त्रों राजपूत वीर केसरिया वस्त्र पहन कर शत्रु से लड़े परन्तु वे मारे गये और बहादुर शाह विजयी हुआ। यह युद्ध चित्तौड़ का दूसरा 'साका' कहा जाता है।

इस घटना के सम्बन्ध में भी कुछ इतिहासकारों का मतभेद है परन्तु मूल घटना बहादुरशाह के साथ हाडी रानी कर्मवती के युद्ध की सभी ने सत्य मानी है। अन्तर इतना ही है कि हुमायूं और बहादुरशाह के बीच युद्ध हुआ। बहादुरशाह कुछ साथियों सहित भाग गया। कुछ समय पश्चात् वह मारा गया। मेवाड़ के सरदारों ने चित्तौड़गढ़ पर बिना रक्तपात के ही पुन अधिकार कर लिया और वे राणा विक्रमादित्य और उदयसिंह को बूंदी में ले आये। विक्रमादित्य ने अपनी दुष्टता फिर भी न छोड़ी। बहुत से सामन्त फिर रुष्ट होकर चित्तौड़गढ़ से अपने अपने स्थानों को चले गये। ऐसी दशा में राणा सांगा के भाई पृथ्वीराज के दासी पुत्र बनवीर ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। विक्रमादित्य गद्दी से उतार दिया गया और बनवीर ने गद्दी संभाल ली। उदयसिंह की उस समय केवल ६ वर्ष की आयु थी। उनका लालन पालन पन्ना धाय करती थी।

बनवीर ने राज्य के प्रलोभन में आकर विक्रमादित्य की हत्या कर डाली। उसने उदयसिंह का प्राणान्त कर देने का भी निश्चय कर लिया था। किसी प्रकार इस घात का समाचार पन्ना को मिल गया। उसने उदयसिंह को एक विश्वासपात्र व्यक्ति के द्वारा गुप्त रूप से महल से बाहर निकाल दिया और क्रोधी बनवीर के पूछने

पर उसने अपने पुत्र को उदयसिंह बना दिया। बनवीर की तलवार के एक ही वार से पन्ना का इकलौता पुत्र मारा गया।

बनवीर के चले जाने पर उस नीरव, अंधकार पूर्ण रात्रि में अपने पुत्र के शव को लेकर पन्ना महल से बाहर निकल गई। उसने नदी के तट पर अपने पुत्र का अंतिम संस्कार किया और फिर राजकुमार उदयसिंह के जीवन की चिन्ता करने लगी। उसने उदयसिंह की प्राण रक्षा की। उदयसिंह ने बड़े होकर अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने के लिये बनवीर से युद्ध किया। उदयसिंह विजयी हुये। उनका धूमधाम के साथ चित्तौड़ में राज्याभिषेक हुआ। उस समय पन्ना जीवित थी। उसने अपने नेत्रों से उदयसिंह के राज्याभिषेक को देखकर अपने को धन्य माना। उधर महाराजा उदयसिंह ने भी पन्ना को माता समझते हुये उसके चरणों की धूलि अपने मस्तक से लगाई।

इस प्रकार से चित्तौड़ का इतिहास अनेक वीराङ्गनाओं की गौरवपूर्ण गाथाओं से भरा पड़ा है। दुर्ग में इस प्रकार की अनेक वीरतापूर्ण घटनायें हमें सुनाई गईं।

दुर्ग के अन्दर अनेक मंदिर हैं। इन मंदिरों का अलग अलग महत्व है। एक मंदिर पर विजय दशमी के अवसर पर भैंसे की बलि भी दी जाती रही है।

इन मंदिरों में भक्त कवियित्री मीरा बाई के नाम का भी एक मंदिर है जिसने राज महल को दीवारों को कारा की दीवार समझा और कृष्ण की भक्ति में पागल होकर जन साधारण के

हृदयों में भक्ति का अपूर्व स्रोत प्रवाहित किया। यह मंदिर शिल्प कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और दर्शनीय है।

विजय स्तम्भ—

मीरा बाई के मंदिर से कुछ दूरी पर विजय स्तम्भ बना हुआ है। स्तम्भ के समीप अनेक भवनों के भग्नावशेष भी विद्यमान हैं।

विजय स्तम्भ की स्थापना राणा कुम्भा द्वारा की गई थी। राणा कुम्भा पर माण्डू के सुलतान महमूद ने १४४८ ई० में आक्रमण किया था। कुम्भा ने सुलतान महमूद को पराजित कर दिया। उस युद्ध की समाप्ति पर विजयोत्सव मनाया गया। उसी समय सन् १४४८ में इस विजय स्तम्भ की स्थापना की गई।

यह स्तम्भ लगभग १२० फीट ऊंचा है। धरातल पर इसकी परिधि लगभग ३० फीट है। इस स्तम्भ की नौ मंजिल हैं। स्तम्भ पर चारों ओर अगणित प्रतिमायें खुदी हुई हैं। इनके देखने से भारत की शिल्प कला की उत्कृष्टता का बोध होता है। इन प्रतिमाओं को ध्यान से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय शत्रुओं ने उस दुर्ग को अपने अधिकार में लिया तो उन्होंने स्तम्भ के चारों ओर खुदी प्रतिमाओं को खंडित करने में अपनी शक्ति लगाई। हमें एक भी प्रतिमा ऐसी दिखाई न पड़ी जिसके किसी न किसी भाग को कहीं न कहीं से खंडित न किया गया हो।

स्तम्भ की भीतरी दीवारों पर अनेक कलापूर्ण चित्र बने हुये हैं। कहीं देवी देवताओं की मूर्तियां बनाई गई हैं तो कहीं मनुष्यों तथा

पशुओं का सुन्दर चित्रण किया गया है। फूल पत्ती तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यावलियां भी इन दीवारों पर अंकित की गई हैं।

विजय स्तम्भ पर चढ़ने के लिये उसके भीतरी भाग में सीढ़ियों का क्रम दिया गया है। ये सीढियां इस प्रकार घूमती हुई जाती हैं कि समस्त स्थानों पर बनी हुई सभी कलापूर्ण मूर्तियों का दर्शन हो जाय। बीच बीच में जहां स्तम्भ का एक खण्ड पूरा होता है, वहां चारों ओर सुन्दर सुन्दर झरोखे और खिड़कियां बनी हुई हैं। इनके द्वारा अन्दर प्रकाश तथा वायु भी पहुंचती है।

गोरा बादल के महल—

सूर्यकुण्ड से कुछ आगे गोरा तथा बादल के महल हैं। इन दोनों वीरों ने मातृ भूमि मेवाड़ की रक्षा में अपने प्राण न्यौछावर कर दिए थे। इनकी स्मृतियां आज भी भारतीय वीरों की नसों में रक्त का संचार कर देती हैं।

जयमल और पत्ता के भवन—

दुर्ग में गोरा बादल के महलों से कुछ दूरी पर बाईं ओर पत्ता और जयमल के भवन भी बने हुये हैं। इन भवनों को देखने पर मेवाड़ के उन वीरों की स्मृति जागृत हो जाती है जिन्होंने इस दुर्ग और मेवाड़ भूमि की रक्षा में अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया।

जयमल के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि वे महाराणा उदयसिंह के मंत्री के रूप में कार्य कर रहे थे। जिस समय अकबर ने सन् १५६६ में चित्तौड़ पर आक्रमण किया उस समय महाराणा

उदयसिंह यहां के शासक थे। परन्तु उनमें राजपूत-सुलभ वीरता न थी। अतः वे भागकर अर्वली पर्वत माला में छिप गये। जयमल ने दुर्ग की रक्षा का भार अपने हाथों में संभाल लिया। पत्ता ने जयमल का साथ दिया। जयमल मुगल सेना के साथ बड़ी दृढ़ता के साथ लड़ा। एक दिन रात्रि में मशालों के प्रकाश में जब वह दुर्ग की एक दीवार की मरम्मत करा रहा था तो अकबर ने उसे ऐसी गोली मारी जिससे उसका वहीं प्राणान्त हो गया। जयमल की मृत्यु से राजपूत निराश हो गये और उनका साहस जाता रहा। वे अपने प्राणों पर खेलकर दुर्ग से बाहर निकल आये और उन्होंने केसरिया वस्त्र धारण करके युद्ध में ही अपने प्राण न्यौछावर कर दिये। पत्ता भी वीर गति को प्राप्त हुआ। पत्ता ने १६ वर्ष की आयु में सहस्रों राजपूत वीरों का नेतृत्व करके अपनी वीरता का परिचय दिया।

कीर्ति स्तम्भ—

पत्ता और जयमल के भवनों से कुछ आगे कीर्ति स्तम्भ है। इसी के समीप वह स्थान है जहां दूसरा तथा तीसरा 'जौहर' हुआ था।

भवानी का मन्दिर—

बप्पा रावल ने दुर्ग के एक मन्दिर में भवानी की प्रतिमा स्थापित कराई थी। भवानी को मेवाड़ के राजपूत चित्तौड़ की राज्य लक्ष्मी समझते थे। खिलजी के आक्रमण के समय यह बात प्रसिद्ध हो गई थी कि भवानी ने कहा है 'मैं रक्त की प्यासी हूं।' राजपूत

भवानी की पूजा करके रण क्षेत्र में जूझने के लिये जाते थे और चित्तौड़ की रक्षार्थ हंसते हसते अपने प्राण न्यौछावर कर देते थे। इसी भवानी की शक्ति का ध्यान करके वीर क्षत्राणियां अपने पतियों और पुत्रों को रण में भेजकर अग्नि की धधकती हुई ज्वाला में भस्म हो जाती थीं।

इस भवानी के मन्दिर के दीपक को अकबर ने रविवार चैत्र शुक्ला एकादशी सम्वत् १६२४ विक्रमी को शताब्दियों के लिये बुझा दिया। जिसके बुझने पर चित्तौड़ गढ़ श्मशान भूमि के तुल्य हो गया, जिसके बुझने से राजपूती वीरता तथा गौरव को महान आघात पहुंचा। यदि विश्वासघाती राजपूत शत्रु को सहायता न देकर एकमत होकर शत्रु का सामना करते तो हो सकता था कि चित्तौड़ का पतन न होता।

आत्मसमर्पण की भूमि—

चित्तौड़ दुर्ग की भूमि आत्म समर्पण की भूमि है। संसार में समय समय पर अनेक ऐसे दैविक प्रकोप हुये जिनमें सहस्रों लाखों प्राणियों ने अपनी जान दे दीं। आमने सामने डट कर युद्ध करने वाले वीरों की भी ऐसी अनेक घटनाये विश्व के इतिहास में अब तक विद्यमान हैं जिनमें सहस्रों, लाखों सैनिक, योद्धा मारे गये। परन्तु देवियों के आत्म समर्पण की ऐसी घटना ससार के इतिहास में कहीं नहीं मिलेगी जिसमें सहस्रों देवियों ने अग्नि में प्रवेश करके हंसते हंसते अपने शरीरों को भस्मसात कर दिया हो। नारियों ने इस प्रकार का आत्म समर्पण इस दुर्ग में तीन बार किया। इस

प्रकार के महान आदर्श का भारतीय नारियों के हृदय में अभी तक भारी सम्मान है।

दुर्ग में ताल—

इस दुर्ग में कई स्थलों पर बड़े बड़े कुण्ड तथा तालाब विद्यमान हैं। सबसे बड़ा ताल पद्मिनी ताल के नाम से पुकारा जाता है। इस ताल के एक सिरे पर बैठकर अलाउद्दीन खिलजी ने पद्मिनी के रूप को निहारा था। विजय स्तम्भ के समीप ही एक छोटा सा पक्का ताल बना हुआ है। इसके अतिरिक्त और भी कई कच्चे ताल हैं जिनमे वर्षा का जल एकत्रित हो जाता है।

दुर्ग में कृषि—

दुर्ग के कुछ भाग में छोटी सी बस्ती भी है। इसमें रहने वाले कुछ खेती बाड़ी भी करते हैं। खेती के लिये पशु भी पालते हैं। इन गरीबों का इस खेती से ही पालन पोषण हो जाता है।

दुर्ग का द्वार—

दुर्ग का विशाल द्वार देखने योग्य है। इसमें अब भी वह लोहे की सलाख लगी हैं जिनसे शत्रु भयभीत हो गया था। द्वार को तोड़ने के लिये हाथी इन सलाखों में टक्कर मारते थे और लौट जाते थे परन्तु मानव की बुद्धि ने उन सलाखों के होते हुए भी मनुष्य प्राणों की बलि दे देकर उन द्वारों को तोड़ा और दुर्ग में प्रवेश किया।

इस दुर्ग के पांच द्वार हैं। मुख्य द्वार का नाम 'सुरजपोल' अथवा 'सूर्यतोरण' है।

पुरानी राजपूती प्रतिष्ठा की द्योतक, यहां कुछ ढाल और तलवार भी देखने को मिलती हैं।

चित्तौड़ के दुर्ग का प्रत्येक स्थल पग पग पर राजपूती वीरता की गौरव गाथा सुना रहा है। चित्तौड़ का पतन भारतीय राष्ट्रीयता का पतन था। जहां इस पतन की स्मृति से हृदय में वेदना उत्पन्न होती थी, वहां वीरों की गौरवपूर्ण गाथाओं से उत्साह भी उत्पन्न होता था।

महा विनाश क्यों ?

मुगलों की राजधानी देहली से मेवाड़ राज्य तक पहुंचने के सुलभ साधन न होते हुये भी चित्तौड़ नगरी और चित्तौड़ दुर्ग का महा-विनाश हुआ, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। हमें देखना है कि भारत के इतने सुदृढ़ तथा सुरक्षित दुर्ग को विनाश के दिन क्यों देखने पड़े।' जहां रण बांकुरे राजपूतों में अपनी मातृभूमि की अपार भक्ति रही हो, जहां राजपूत वीरों में स्वदेश के लिये जीने और स्वदेश के लिये मरने की प्रबल भावना रही हो, वहां फिर इतना घोर-विनाश क्यों हुआ ? उस समय राजपूत वीर स्वदेश भक्ति के नाम पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को सदैव उद्यत रहते थे। परन्तु इतना होते हुये भी उनमें वैमनस्य की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। उस समय के नरेशों की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा ने उन्हें एक दूसरे का शत्रु बना दिया था। शत्रुओं के आक्रमण के समय कुछ देशद्रोहियों ने उन्हें अपना सहयोग प्रदान किया।

इस स्थिति में मेवाड़ भूमि की रक्षा का भार केवल उन वीरों

पर पड़ा, जो राजपूत गौरव की रक्षा को अपना धर्म और कर्तव्य समझते थे। कुछ देश द्रोही स्वदेश और स्व-धर्म रक्षा के पवित्र विचार को परित्याग करके विदेशी आक्रमणकारियों से मिल गये। उस समय दिल्ली से आने वाले आक्रमणकारी इन्हीं देशद्रोहियों की सहायता से मेवाड़ भूमि पर टिके और उन्होंने अपनी शक्ति का संचय किया। अंत में इन्होंने चित्तौड़ दुर्ग पर भीषण आक्रमण किये जिसके फलस्वरूप राजपूतों का महा-विनाश हुआ।

महाराणा प्रताप ने जीवन भर इस बात का प्रयत्न-प्रयत्न किया कि मेवाड़ भूमि पर यवनों का आधिपत्य न होने पाये। वे इस बात के लिये महान से महान संकटों का सामना करते रहे कि चित्तौड़ दुर्ग पर राजपूतों की धवल-ध्वजा फहराती रहे परन्तु वे जीवन भर संघर्ष करते रहने पर भी इस ध्येय में सफल न हो सके।

विश्वास घातिनी 'चित्तौड़ी'—

दुर्ग के समीप 'चित्तौड़ी' नाम की एक पहाड़ी है। इसे मेवाड़ के इतिहास में घोर विश्वासघात का सूचक समझा जाता है। जिस समय अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया और उसने दुर्ग पर घेरा डाल दिया, उस समय 'चित्तौड़ी' पहाड़ी टीला न थी किन्तु निचली भूमि थी। अलाउद्दीन की सेना के लिये यह आवश्यकता हुई कि उस निचली भूमि को ऊँचा कराया जाय जिस पर खड़े होकर सैनिक दुर्ग के दक्षिण भाग पर आक्रमण कर सकें। अतः अलाउद्दीन ने आज्ञा दी कि जो व्यक्ति एक टोकरी मिट्टी इस स्थान पर लाकर डालेगा, उसे एक अशर्फी दी जायेगी।

इस प्रकार विश्वासघातियों ने इस स्थान पर लोभवश मिट्टी डाल डालकर इसे एक पहाड़ी टीला बना दिया। यहां से अलाउद्दीन के सैनिकों ने दुर्ग पर गोलाबारी की थी।

इस स्थल की खुदाई में कभी कभी अलाउद्दीन खिलजी के समय के सिक्के भी प्राप्त हो जाते हैं।

आज भी यह दुर्ग उन राजपूत वीराङ्गनाओं का स्मरण करा रहा है जिन्होंने अपने शरीर पर शत्रु की परछाई पड़ने को अपना अपमान समझा, जो प्रज्वलित अग्नि चिता को माता की गोद समझकर भस्मीभूत हो गईं, जिन्होंने अपने पतियों और पुत्रों को केसरी वस्त्र धारण कराके रण में मर मिटने को भेजा।

इसी के साथ साथ यह दुर्ग उन वीरों का भी स्मरण करा रहा है जिन्होंने प्राण रहते हुये, शत्रु से युद्ध करते हुये, मातृभूमि पर अपनी आहुति दे दी।

ग्वालियर दुर्ग

ग्वालियर दुर्ग—
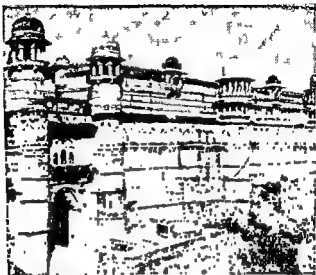
राजा मानसिंह के महल का एक दृश्य
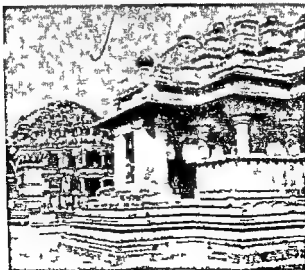
स म च मंदिर

ग्वालियर दुर्ग

मध्यभारत के दुर्गों मे ग्वालियर का दुर्ग अत्यन्त प्राचीन दुर्गों मे गिना जाता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इसकी स्थापना ईसा की पांचवी शताब्दी मे हुई। इस दुर्ग का सम्बन्ध अनेक वशों के साथ रहा। गुप्त, हूण, कच्छवाह, प्रतिहार, तोमर, पठान, मुगल, मरहठा तथा अग्रेज ने समय समय पर इस दुर्ग पर आक्रमण किये और उसे विजय किया। फलस्वरूप इस दुर्ग मे प्राय सभी शासकों के चिन्ह विद्यमान हैं। दुर्ग के साथ कई संस्कृतियों का गहरा सम्बन्ध रहा है। ग्वालियर का प्राचीन नाम गोपागिरी था। यह किम्वदन्ती चली आती है कि जिस पहाड़ी पर दुर्ग निर्माण किया गया था, उस पर किसी समय गड़रिये अपनी बकरी चराया करते थे।

ऐतिहासिक महत्व—

प्राचीन लेखों मे ग्वालियर दुर्ग का नाम गोपाद्रि तथा गोपाचल भी मिलता है। छठी शताब्दी मे यह दुर्ग हूण शासक मिहिरकुल के अधिकार मे था। सूर्य मन्दिर से छठी शताब्दी का जो लेख प्राप्त हुआ है उसमे भी इस दुर्ग का उल्लेख किया गया है। चतुर्भुज मन्दिर मे सन् ८७५ व ८७६ ई० के दो शिलालेख प्राप्त हुये हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय यह दुर्ग कन्नौज के प्रतिहार शासक मिहिर भोज के अधिकार मे था। १० वीं शताब्दी के अन्त मे कच्छपघट के सरदार वज्रदमन ने इस दुर्ग को कन्नौज के प्रतिहार शासक विजयपाल से जीत लिया और कछवाह

सेना हार गई और एलिनबरो ने ग्वालियर दुर्ग को अपने अधीन करके उसकी सेना को तोड़ दिया।

जब सन् १८५७ का स्वाधीनता संग्राम हुआ तो ग्वालियर में जयाजीराव सिंधिया की सेना भी भड़क उठी। पर कायर सिंधिया ने सेना का साथ न दिया और भागकर अंग्रेजों की शरण में लाहौर चला गया। रानी लक्ष्मीबाई और नाना साहब के सेनापति तात्यां टोपे ने मिलकर ग्वालियर पर अपना अधिकार कर लिया और नाना साहब के भतीजे राव साहब को ग्वालियर का राजा बनाया। इसी बीच जून में सर ह्यूज रोज ग्वालियर पहुंचा। रानी लक्ष्मीबाई झांसी से निकल कर ग्वालियर पहुंच चुकी थी। उसने राव साहब को युद्ध के लिये तैयार होने के लिये बहुत समझाया। परन्तु राव साहब अपने राग रंग में मस्त रहा और न ही वह एक स्त्री की राय के अनुसार चलना चाहता था। एकाएक आक्रमण को देखकर उसका साहस टूट गया। महारानी लक्ष्मीबाई ने दो दिन तक डट कर अंग्रेजों का सामना किया। परन्तु यह संग्राम विफलता के साथ समाप्त हो गया और ग्वालियर दुर्ग पूर्ण रूप से अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

सन् १८५७ के राजनैतिक विप्लव के उपरान्त लगभग ३० वर्ष तक इस दुर्ग को अंग्रेजों ने अपनी सेना का एक प्रमुख केन्द्र बनाकर अपने आधिपत्य में रक्खा। उस समय मध्य भारत पर अपना पूर्ण अधिकार बनाये रखने के लिये अंग्रेजों को एक ऐसे विशाल दुर्ग की बड़ी आवश्यकता थी। परन्तु उन्होंने झांसी पर अपना पूर्ण अधिकार

स्थापित करने की दृष्टि से यह उचित समझा कि यह मराठों को लौटा दिया जाय। अतः उन्होंने एक सन्धि के अनुसार झांसी लेकर यह दुर्ग सिंधिया को लौटा दिया। उस समय से यह दुर्ग सिंधिया वंश के अधिकार में ही चला आता है। स्वर्गीय सरदार पटेल के उद्योग से ग्वालियर राज्य को मध्य भारत राज्य में सम्मिलित कर दिया गया जिसके राज्य प्रमुख महाराजा ग्वालियर हैं।

दुर्ग सम्बन्धी स्थलों में समय समय पर अनेक शिलालेख भी प्राप्त होते रहे हैं। इन शिलालेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि बहुत से हिन्दू नरेशों ने दुर्ग में मंदिर, महल आदि का निर्माण भी कराया। कन्नौज के राजाओं का इस दुर्ग के साथ गहरा सम्पर्क रहा। कहा जाता है कि चतुर्भुज मंदिर का निर्माण नवीं शताब्दी में कन्नौज के राजा रामदेव के समय में हुआ था।

दुर्ग में जैन धर्म से सम्बन्धित बहुत सी सामग्री भी प्राप्त हुई है जो पुरातत्व विभाग के संरक्षण में इस समय एक महल में सुरक्षित है। दुर्ग में स्थान स्थान पर जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां भी स्थापित हैं जिन्हें देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन काल में इस दुर्ग पर जैनधर्मावलम्बी शासकों का पूर्ण अधिकार रहा।

दुर्ग की स्थिति—

यह दुर्ग लगभग ३०० फिट ऊंची पहाड़ी पर स्थित है। इस की लम्बाई लगभग पौने दो मील है। चौड़ाई का कुछ भाग ६०० फिट है और कुछ भाग २८०० फिट तक चौड़ा है। दुर्ग की प्राचीर लगभग ३० फिट ऊंची है। राजा मानसिंह के राज महल की गुम्बज तथा मीनारें अभी तक उन्नत भाल किये खड़ी हैं।

महल मानमन्दिर है। मानसिंह का शासनकाल सन् १४८६ से १५१६ तक समझा जाता है। फर्ग्यूसन ने इस महल को आरम्भिक काल के हिन्दू राजमहलों का एक प्रभावशाली तथा आकर्षक नमूना बताया है।

मानमंदिर के पूर्व की ओर की दीवार उत्तर से दक्षिण तक ३०० फिट लम्बी तथा ८० फिट ऊची है। इसम बराबर की दूरी पर छः मीनारें बनी हुई हैं जिनमें ऊपर के भाग में गुम्बद बनाये गये हैं। दक्षिण के ओर की दीवार से पूर्व से पश्चिम तक १५० फिट लम्बी और लगभग पचास फिट ऊची है। इसकी दीवारो पर मनुष्यों, हाथियों, चीतों तथा विभिन्न वनस्पतियों की आकर्षक मूर्तियां बनी हुई हैं।

मुख्य भवन के अन्दर दो विशाल चौक हैं जिनके चारों ओर महल में निवास करने वालों के लिये भवन भी बने हुये हैं। यद्यपि यह महल दो मंजिला बना है परन्तु पूर्व की ओर के भाग में चार मंजिल हैं। दो मंजिल अब भूमि के नीचे आ गई हैं। इस महल में पत्थरों की खुदाई और पच्चीकारी का बहुमूल्य काम किया गया है जिसे देखकर मन प्रसन्न हो उठता है। इस महल में रंग बिरंगे पत्थरों के प्रयोग द्वारा अनुपम सजावट की गई है। पत्थरों की कटाई करके सुन्दर सुन्दर जालिया भी बनाई गई हैं जिनमे भारतीय वास्तुकला का समुचित बोध होता है। मानमंदिर महल की गणना भारत के प्राचीन भव्य प्रासादों में होती रही है और आज भी यह विशाल भवन अपनी प्राचीन कला का परिचय दे रहा है।

दुर्ग का दूसरा प्रमुख महल गूजरी महल है। इसे पंद्रहवीं शताब्दि में तोमर वंशी राजा मानसिंह ने अपनी गूजरी रानी के नाम पर बनवाया था जिसका नाम मृगनयनी था। यह महल भी दो मंजिला बनाया गया था। इसके निर्माण में पत्थरों का प्रयोग किया गया है। यह महल २३२ फिट लम्बा और १९६ फिट चौड़ा है। गूजरी महल के अन्दर के प्राङ्गण के चारों ओर जो भवन बनाये गये हैं, उनमें अनेक प्रकार के नमूने दृष्टि पड़ते हैं। प्राङ्गण के मध्य में एक भूमिगत विशाल कमरा भी है।

प्राचीन वस्तुओं का संग्रहालय—

अब इस महल में पुरातत्व विभाग ने एक अद्भुतालय (म्युजियम) स्थापित कर दिया है जिसमें प्राचीन मूर्तियां, शिलालेख, चित्र तथा अन्य वस्तुयें राज्य के विभिन्न भागों से प्राप्त करके एकत्रित करदी गई हैं।

गूजरी महल के अद्भुतालय (अजायबघर) में खुदाई किये गये मिट्टी के पात्र, मिट्टी की पकी हुई मूर्तियां, स्मारक-चिन्ह मंजूषा, लोहे के विविध औजार, अनेक प्रकार के सिक्के, विविध समय के शिलालेख, स्तम्भों के ऊपरी भाग, प्रस्तर तथा धातु की मूर्तियां, ढली हुई लोहे की पटरियां व शिल्प सम्बन्धी टुकड़े आदि विद्यमान हैं जो ईसा से २०० वर्ष पूर्व के काल से लेकर ईसा की तेरहवीं शताब्दि तक के हैं।

मूर्तियों में हिन्दुओं के प्रायः सभी देवी देवताओं की मूर्तियां सम्मिलित हैं जो ब्राह्मण काल की द्योतक हैं। इनके अतिरिक्त जैन

काल की भी अनेक मूर्तियां हैं। स्थान स्थान पर दुर्ग में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां अभी तक स्थापित हैं। इनमें एक मूर्ति ५७ फिट ऊंची है। जो मूर्तियां अपने निश्चित स्थानों से किसी समय हटा दी गई थीं, वे अब अद्‌भुतालय में सुरक्षित कर दी गई हैं।

इन सब वस्तुओं से प्राचीन कला, प्राचीन शिल्प विद्या तथा प्राचीन संस्कृति की पूर्ण झलक मिलती है। यहां दो सहस्र वर्ष से भी अधिक समय के ऐसे अवशेष सुरक्षित हैं जो भारतीय वस्तु-स्थापत्य की महत्ता को प्रगट करते हैं।

इन मंदिरों और महलों के अतिरिक्त दुर्ग में दो अन्य महल, कर्ण मंदिर तथा विक्रम मंदिर भी हैं।

दुर्ग पर मुस्लिम आधिपत्य होने पर इसमें कई मुस्लिम महल भी निर्माण किये गये। इनमें से एक का नाम जहांगीरी महल है और दूसरे को शाहजहां महल के नाम से पुकारते हैं।

मंदिरों की बाहुल्यता—

ग्वालियर दुर्ग में किसी समय अनेक मंदिर थे। समय समय पर हिन्दू शासक अपने इष्ट देवों के नाम पर मंदिर निर्माण कराते रहे। कहा जाता है कि मुस्लिम काल में इन मंदिरों में से अनेक मन्दिर विनष्ट कर दिये गये और उनकी सामग्री दूसरे कार्यों में प्रयोग कर ली गई।

दुर्ग में इस समय भी सात मन्दिर सन्तोषजनक स्थिति में वर्तमान हैं। इनमें से एक मंदिर 'साधु ग्वालिया' के नाम से विख्यात है। दूसरा मंदिर चतुर्भुज विष्णु नाम से प्रसिद्ध है।

दो मंदिर 'सास बहू के मंदिर' नाम से पुकारे जाते हैं जिसमें से एक बड़ा है और दूसरा अपेक्षाकृत कुछ छोटा है। पांचवां मंदिर माता देवी का है। छठा मंदिर 'जैन मंदिर' है और सातवां मंदिर 'तेली मंदिर' नाम से विख्यात है।

साधु ग्वालिया का मूल मंदिर गणेश दर्वाजे के निकट स्थित था जिसे १६६४ ई० में मौतमिद खां ने गिरा दिया। वह उस समय दुर्ग का किलेदार (गवर्नर) था। उसने इस मंदिर को एक छोटी सी मस्जिद के रूप में परिवर्तित करा लिया। कुछ समय पश्चात् साधु ग्वालिया की स्मृति में उसी मस्जिद के समीप एक दूसरा मंदिर निर्माण कराया गया।

चतुर्भुज विष्णु मंदिर का निर्माण वल्लभट्ट के पुत्र अल्लभट्ट ने ८७५ ई० में कन्नौज के शासक रामदेव के समय में कराया था। इस मंदिर का मुख्य भवन चौकोर है। जिसके ऊपर एक शिखर भी बना हुआ है। कहा जाता है कि इस मंदिर की प्रतिमा को किसी समय यहां से हटा दिया गया था परन्तु कुछ समय बीतने पर वह पुनः स्थापित कर दी गई।

सास बहू के दो मन्दिर एक दूसरे के पास पास बने हुये हैं। कहा जाता है कि इस प्रदेश की बोली में मन्दिर, कुआं आदि को जो एक दूसरे के पास बनाये गये हों, सास बहू का नाम दे दिया जाता है। इसमें एक मन्दिर बड़ा विशाल है। इसकी स्थापना ११ वीं शताब्दी में राजा महिपाल द्वारा हुई थी। कुछ लोगों का विश्वास है कि ये दोनों मंदिर, जैन मंदिर हैं परन्तु उनमें से एक

मदिर से प्राप्त सस्कृत शिलालेख से प्रगट होता है कि यह हिन्दू मदिर ही है। मदिर की शिल्पकला से भी यही आभास मिलता है कि इन दोनों मंदिरो के निर्माण का मुख्य आधार उस समय का हिन्दू धर्म था।

बडा मंदिर विष्णु भगवान के नाम पर निर्मित किया गया। इस मदिर का विस्तार १०२ फिट लम्बाई तथा ७४ फिट चौडाई में है। इसके मध्य मे एक वर्गाकार विशाल भवन है। जो ३२ फिट लम्बा है। इसकी उच्चतम चोटी १०० फिट ऊची थी जो अब नष्ट हो चुकी है। यद्यपि इस मदिर का कई बार विनाश हुआ परन्तु फिर भी यह अपनी अनुपम छटा को आज भी प्रदर्शित कर रहा है।

मन्दिर का हाल ३२ फीट लम्बा ३१ फीट ३ इंच चौडा है। हाल के मध्य मे एक वर्गाकार चबूतरा है। चबूतरे के चारो कोनो पर चार स्तम्भ हैं जो छत को सहारा देते हैं। चबूतरे के ऊपर मध्य म जो छत है उसमे भारतीय भवन निर्माण कला के अनुसार अनेक प्रकार की सजावट की गई है। यह सम्पूर्ण भवन अन्दर से देखने मे ऐसा लगता है कि जैसे ज्यामिति की विभिन्न आकृतिया बनाई गई हो। बडे सास बहू मदिर के प्रवेश द्वार पर भी सुन्दर खुदाई की गई है। यहीं पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश की एक त्रिमूर्ति बनी हुई है। विष्णु की मूर्ति के नीचे उनके वाहन गरुड की मूर्ति बनी हुई है। विष्णु और गरुड की मूर्तियो के बीच मे सूर्य चन्द्र आदि नवग्रहों की मूर्तिया हैं। गगा तथा यमुना की मूर्तिया भी यहा

प्रस्थापित हैं। गणेश तथा कुबेर की मूर्तियां भी इसी भाग में वर्तमान हैं।

छोटा सास बहू का मन्दिर भी बड़े मन्दिर के समान भगवान विष्णु को समर्पित किया गया था। यह इस समय काफी भग्न हो चुका है। इस मन्दिर को देखने से पता लगता है कि हिन्दू लोग अपने धार्मिक भवनों में बड़े परिश्रम तथा अध्यवसाय के साथ खुदाई तथा सजावट आदि किया करते थे।

माता देवी का मंदिर सूर्य कुण्ड के दक्षिण पूर्वी किनारे पर स्थित है। इसका कुछ भाग भग्न हो चुका है। इसका निर्माण काल १२ वीं शताब्दी माना जाता है।

माता देवी मंदिर से लगभग दो फर्लांङ्ग दक्षिण की ओर जैन मंदिर के भग्नावशेष विद्यमान हैं। यह मंदिर तिमंजला है जिसपर अब कोई शिखर नहीं है। इस समय मंदिर प्रायः खाली पड़ा है। केवल कुछ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां इधर उधर बिखरी पड़ी हैं। यह मंदिर अन्य हिन्दू मंदिरों जैसी सजावट से युक्त नहीं है। इस मंदिर के प्रायः सभी द्वारों पर किसी न किसी तीर्थंकर का मूर्ति बनी हुई है। इस मंदिर का निर्माणकाल १५ वीं शताब्दि ठहराया जाता है।

तेली का मन्दिर—

यह मन्दिर भी अपनी विशालता में अनोखा समझा जाता है। दुर्ग के वर्तमान भवनों में इसकी विशालता सबसे अधिक मानी जाती है। इस मन्दिर का प्रारम्भिक नाम दक्षिण व तिलंगाना नाम

पर पड़ा था परन्तु धीरे धीरे इसे तेली मन्दिर कहने लगे। इस मंदिर के निर्माण के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है कि किसी तेल बेचने वाले या तेल पेरने वाले ने इसे बनवाया हो।

यह मन्दिर लगभग १०० फिट ऊंचा है। इस मन्दिर को भी भगवान विष्णु को समर्पित किया गया था। इसका निर्माण काल नवीं शताब्दि माना जाता है। इस मन्दिर का शिखर दक्षिण भारत के द्रविड़ मन्दिरों के समान है। इसकी अन्य सजावट आदि उत्तर भारत के मन्दिरों से मिलती जुलती है।

सूर्यकुण्ड के पश्चिमी किनारे पर दो अपेक्षाकृत नवीन मन्दिर हैं जिनमे से एक शिव को समर्पित किया गया है तथा दूसरा सूर्य को। नवीन सूर्य मन्दिर के स्थान पर पहले हूण विजेता मिहिरकुल के शासनकाल में मातृचेता द्वारा बनवाया हुआ प्राचीन सूर्य मन्दिर था।

दुर्ग के विभिन्न ताल—

दुर्ग में अनेक ताल, कई कुयें तथा पहाड़ों की चट्टानों को काटकर बनाई हुई बावड़ियां हैं। तालाबों में जौहर ताल, मान सरोवर, सूर्य कुण्ड, गंगोला ताल एक खम्भा ताल, कटोरा ताल, रानी ताल तथा छेदी ताल मुख्य हैं। कुओं मे ८० खम्भा मुख्य है तथा बावड़ियों के नाम अनार बावड़ी तथा शरद बावड़ी हैं।

जौहर ताल शाहजहां के महल के उत्तरी किनारे के बाहर बना हुआ है। कहा जाता हैं कि १२३२ ई० में जब यह दुर्ग अल्तमश के हाथ मे आया उस समय दुर्ग विजय से पूर्व राजपूत वीरांगनाओं ने इस स्थान पर अपने सतीत्व की रक्षार्थ जौहर व्रत सम्पन्न किया था।

मान सरोवर ताल का नाम, राजा मानसिंह के नाम पर पड़ा था जिन्होंने इसे खुदवाया बताते हैं।

सूर्यकुण्ड ताल का नाम राजा सूर्यसेन के नाम पर पड़ा बताया जाता है जिनको, दन्त कथा इस दुर्ग का संस्थापक भी मानती है। सम्भवतः इस ताल का यह नाम इसलिये पड़ा हो कि इसके समीप भगवान सूर्य का मन्दिर था।

गंगोला ताल का वास्तविक नाम गंगालय ताल प्रतीत होता है जो या तो गगा नाम की रानी के नाम पर रक्खा गया अथवा गंगा नदी की देवी के नाम पर रक्खा गया।

एक खम्भा ताल का यह नाम उसके मध्य में स्थित एक ऊंचे स्तम्भ के कारण पड़ा।

रानी ताल सम्भवतः १५ वीं शताब्दि का है। इसका यह नाम इसलिये पड़ा कि यहां समीपस्थ राज महलों की राजपूत रमणियां इसमें स्नान करने तथा तैरने के लिये आती थीं।

लक्ष्मण द्वार तथा हाथिया पौर के बीच में अनार बावड़ी तथा शरद बावड़ी स्थित हैं। यह चट्टानों को खोदकर बनाई गई हैं तथा इनमें वर्ष भर जल रहता है।

सूर्यकुण्ड के उत्तर में एक और भवन है जिसे काले किला अथवा अन्दर का दुर्ग कहा जाता है। यह मरहठों द्वारा निर्माण किया गया था।

दुर्ग में अंग्रेजों ने १८४८ से १८८६ तक अनेकों बारकें, बङ्गले आदि सैनिक उपयोग के लिये बनाये जो बाद में सिंधिया

आगरे के किले का बाहरी दृश्य
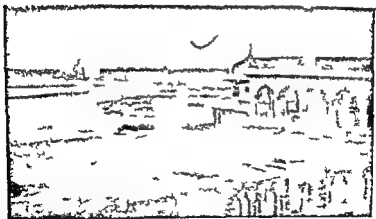
आगरा दुर्ग का दीवान खास
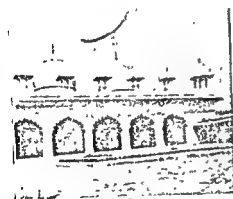
आगरा दुर्ग—

(१) वह कमरा जिसमें शाहजहाँ कैदी रहा।

(२) दुर्ग में मोती मस्जिद।

(३) दीवाने आम का एक दृश्य।

(४) अमर सिंह के घोड़े का स्मृति चिन्ह।

आगरा दुर्ग

यह वह दुर्ग है जिसे अकबर महान ने बनवाया था। जिसमें उसके वंशज औरंगजेब ने अपने वृद्ध पिता शाहजहां को कैद करके रक्खा था और यहीं उसकी मृत्यु हुई थी।

यह वह दुर्ग है जहां अकबर ने अपने आमोद प्रमोद की प्रत्येक सामग्री एकत्रित करने का यत्न किया। जहां उसने मीना बाजार लगवाया जिसमें राजपूती घरानों की महिलायें वस्तुओं की बिक्री के लिये आया करती थीं।

यह वह दुर्ग है जिसमें से शाहजहां के दरबार से अमर सिंह राठौर वीरतापूर्ण ढंग से निकल भागा था परन्तु बाद को वह पकड़ा गया और उसके दक्षिण द्वार पर उसे फांसी दी गई।

यह वह दुर्ग है जहां बेगमों के स्नान के लिये गर्म व ठंडे पानी के संगमरमर के हौज बनवाये गये और उनकी रंगरेलियों के लिये एक शीशमहल भी बनवाया गया। इसी दुर्ग में वह हौज भी बना था जिसमें गुलाब जल भरवाकर जहांगीर गुसल (स्नान) करता था। इसी दुर्ग में उसने अकबर की मृत्यु के पश्चात् राज सिंहासन ग्रहण किया था।

यही वह दुर्ग है जिसे अंग्रेजों ने अपनी छावनी का केन्द्र बनाया। जहां सर जान रसल कालविन ने १८५७ में युद्ध लड़ा और इस दुर्ग की रक्षा की। और आज—यह दुर्ग भारत सरकार के अधिकार में है जिसे उसने ऐतिहासिक महत्वपूर्ण स्थान के रूप में सुरक्षित किया हुआ है।

भारत में आगरा एतिहासिक दृष्टि से एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। मुगल काल में इसकी महानता और इसका गौरव चरम सीमा पर था। जब मुगल काल में मुगल सम्राटों का शासन भारत में फैला हुआ था, उस समय यह अकबर से लेकर शाहजहां और औरंगजेब के समय तक राजधानी के रूप में भी प्रयोग होता रहा है। आज भी आगरा और उसके आस पास के भागों में मुगल-कालीन बहुत सी स्मृतियां शेष हैं। आगरे का किला भी उन्हीं में से एक है।

आगरे में इस किले को मुगल सम्राट अकबर महान ने १५६४ में बनवाया था। अकबर ने इसी समय के लगभग आगरे से लगभग २६ मील दूर फतहपुर सीकरी में भी बहुत से महल व दीवाने आम और दीवाने खास आदि बनवाये थे। कुछ एतिहासिकों का कथन है कि उस समय अकबर का विचार सीकरी को राजधानी बनाने का था और उसी के अनुरूप समस्त इमारतें उसमें बनाई गई हैं। परन्तु, वहां पर पानी की कठिनाई के कारण राजधानी न बन सकी। फिर सम्भवतः आगरे में किला बनवाया गया। इस किले को बनवाने में, कहा जाता है, कि ८ वर्ष का समय लगा और लगभग ३५ लाख रुपये की लागत आई।

किले में जिस द्वार से हम घुसते हैं वह अकबर के समय का बना हुआ ही है और उसका नाम अकबर के समय में दक्षिण द्वार पड़ता था। १६४४ से इस द्वार का नाम अमर सिंह द्वार हो गया। इसका इतिहास कुछ इस प्रकार से बताया जाता है कि शाहजहां

के समय में अमर सिंह नाम का एक राजपूत योद्धा मुगल फौज में उच्चाधिकारी था। वह अपने विवाह के लिये ७ दिन के अवकाश पर गया हुआ था। इसी बीच में कहीं पर लड़ाई प्रारम्भ हो गई। अमर सिंह को तत्काल बुलाया गया। समय पर न आने के कारण इसकी शाहजहां के दरबार में पेशी हुई। कहा जाता है कि जिस समय यह शाहजहां के सम्मुख प्रस्तुत किया गया उस समय एक उच्च सिपहसालार सलावत खां ने अमर सिंह को बुरा भला कहा। अमर सिंह ने क्रोध में आकर सलावत खां को वहीं कत्ल कर दिया और वह अपने घोड़े पर सवार होकर दक्षिण द्वार से भाग गया। उसके भागने के विषय में दूसरा मत यह है कि जिस समय वह भागा उस समय दक्षिण द्वार बन्द था और वह इसके पास ही किले की सबसे ऊंची दीवार से (लगभग ७० फीट से) अपने घोड़े के साथ कूदा। कूदते ही उसका घोड़ा वहीं पर मर गया परन्तु अमर सिंह बच कर निकल गया। इस समय जहां पर अमर सिंह का घोड़ा कूदा था, पत्थर के घोड़े का सिर बनाया हुआ है। कहा जाता है कि बाद में अमर सिंह पकड़ा गया था और उसको दक्षिण द्वार पर फांसी दी गई थी और तभी से इस द्वार का नाम अमर सिंह द्वार पड़ा।

द्वार से जैसे हम प्रविष्ट होकर अन्दर पहुंचते हैं तो हम सबसे पहले किले के मैदान में पहुंचते हैं। यह परेड ग्राउण्ड कहलाता है। यहां पर मुगल सेना विविध अवसरों पर आया करती थी। इसमें दाहिनी ओर दीवाने आम है। जिस समय मुगल सम्राट का दरबार लगा करता था उस समय जनता आकर परेड ग्राउण्ड में बैठ जाया

करती थी। दीवाने आम में एक विशेषता यह है कि बरामदे की महरावें (Arch) इस प्रकार से बनी हैं कि आप किसी भी स्थान पर बैठ जाइये, आप बादशाह को भली प्रकार से देख पायेंगे।

इस समय दीवाने आम के बाहर एक कब्र बनी हुई है जो सर जान रसल कालविन की बताई जाती है। कहते हैं कि १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के समय सर जान रसल कालविन किले की रक्षा के लिये नियुक्त जनरल था। इसने किले की रक्षा की थी, इसी कारण इसकी कब्र यहां पर बनी हुई है।

दीवाने आम के सामने परेड ग्राउण्ड में एक कुआं है। इस कुयें में पानी की गहराई २० फीट के लगभग थी तथा वर्षा ऋतु में सारे मैदान का पानी इसी कुयें में जाता था। कहते हैं कि इस कुयें में से चाहे जितना पानी निकल जाय या इसमें चाहे जितना पानी आ जाय यह अपनी मर्यादा नहीं छोड़ता था। इसमें पानी इतना ही बना रहता था। दूसरी बात इस कुयें के विषय में यह कही जाती है कि जब मुगलों ने आगरे के किले को खाली किया, उस समय इस कुयें को उन्होंने श्राप दिया था जिसके कारण इसका पानी खारा हो गया। इस समय यह कुआ प्रयोग में नहीं आता परन्तु देखने में प्रतीत होता था कि किसी समय यह काफी प्रयोग में आता रहा होगा। कुयें में उतरने के लिये पक्की सीढ़ियां बनी हुई हैं तथा कुये की दीवार में पानी की सतह के समीप एक दर्वाजा है।

इसके पश्चात् हम मोती मस्जिद पर पहुंचते हैं। यह परेड ग्राउण्ड में मिली हुई है। इसको कहा जाता है कि शाहजहां ने

१६४८ में बनवाई। कुछ लोगों का मत है कि यह ताज के बाद ताजमहल के बचे हुये सामान से बनवाई गई थी। इसमें एक ओर धूप घड़ी बनी हुई है। मस्जिद में बीचों बीच एक बड़ा हौज है जिस में नमाज पढ़ने आने वाले हाथ, मुंह आदि धोया करते थे। नमाज पढ़ने के चबूतरे की बगल बगल में स्त्रियों के लिये नमाज पढ़ने का स्थान बना हुआ है।

इसके विषय में कहा जाता है कि १८५७ में स्वतन्त्रता संग्राम के समय अंग्रेजों ने मस्जिद को अस्पताल के रूप में प्रयोग किया था मुसलमानों का मत है कि इससे यह मस्जिद अपवित्र हो गई और १८५७ के बाद से इसमें मुसलमानों ने नमाज पढ़ना छोड़ दिया। इस मस्जिद को ३ लाख रुपये की लागत से बनवाया गया था।

यहां से हम मीना बाजार को जाते हैं। मीना बाजार अकबर के समय का है। इसमें कहा जाता है कि स्त्रियां व नवयुवतियां ही अपनी दस्तकारी आदि के सामान की दूकानें लगाती थीं। एक ओर ऊपर मुगल सम्राट व उसकी बेगम के लिये स्थान बना हुआ है जहां पर आकर यह बैठ कर मीना बाजार देखा करते थे और सामान क्रय करते थे। यहां पर अकबर के अधीन समस्त राज्यों के राजघरानों से नवयुवतियां अपनी दस्तकारी का सामान लेकर आती थीं और यह कहा जाता है कि उस समय में मुगल सम्राट जिस युवती को चाहता था अपने साथ ऐशो आराम के लिये ले जा सकता था और किसी को भी रोकने का अधिकार नहीं था। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि केवल जयपुर का राजघराना अपने यहां

से किसी को भी न भेजने के लिये मुक्त था अन्यथा प्रत्यक राज-घराने से युवतिया मीना बाजार मे आती थीं।

बाद मे यहा पर जिस समय जाटों ने आगरे पर कब्जा किया उस समय मीना बाजार के समीप राजा रतनसिंह ने मन्दिर बनवाया जो कि राजा रतनसिंह का मन्दिर से विख्यात है।

यहीं से हम एक द्वार पर पहुचते हैं जो कि चित्तौड दरवाजा कहलाता है। प्राचीन काल में यह प्रथा रही है कि लडाइयों में जो भी राजा जीतता था, वह हारे हुये राजा के किले का सम्भवत मुख्य दरवाजा अपनी विजय के चिन्ह स्वरूप ले जाता था और इसे अपने किले मे स्थान देता था। चित्तौड दरवाजे का इतिहास भी इसी प्रकार से बनाया जाता है। १५६८ मे जब अकबर चित्तौड मे जयमल से जीता, उस समय अकबर यह द्वार अपने साथ विजय का चिन्ह स्वरूप लाया था।

परेड ग्राउण्ड मे दीवान आम के सीधे हाथ पर वह कमरा है जिसमें शाहजहा अपनी वृद्धावस्था मे अपने बेटे औरङ्गजेब द्वारा कैद किया गया था। इस कमरे मे नीचे मे एक खिडकी है जिसके बारे मे कहा जाता है कि शाहजहा यहा पर खडे होकर नीचे खडे बन्चों को कुरान की आयतें कण्ठस्थ कराया करता था।

जिस कमरे मे शाहजहा अपनी वृद्धावस्था मे कैद के दिन बिताता था उसी के समीप एक छोटी सी मस्जिद बनी हुई है। इस मस्जिद को औरङ्गजेब ने शाहजहा के लिये, जिस समय वह कैद था, बनवाई थी। इसका कारण यह था कि शाहजहा को मोती

मस्जिद में जाकर नमाज पढने की इजाजत नहीं थी क्योंकि औरङ्गजेब को भारी भय था कि कहीं शाहजहां जनता को उसके विरुद्ध भडका न दे, इसीलिये उसके लिये विशेष रूप से मस्जिद बनवाई गई थी। यह मस्जिद बिल्कुल सादी है।
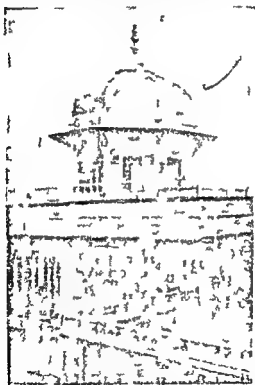
समन बुर्ज

इसी बुर्ज में शाहजहां की सन १६६६ ई० को मृत्यु हुई। यह बुर्ज जहांगीर ने अपनी प्रियतमा नूरजहां के लिये बनवाया था।

औरंगजेब ने शाहजहां पर इतना कड़ा पहरा लगवाया कि वह किसी प्रकार से भी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा और उसका उपभोग न कर सके। उसने शाहजहां को 'बुतपरस्तों' की श्रेणी में समझा और उसके द्वारा निर्मित किये गये ताजमहल को उसने कभी सहन नहीं किया।

शाहजहां के कैद किये जाने के विषय में एक किंवदन्ती प्रचलित है। कहा जाता है कि शाहजहां की इच्छा थी कि यमुना के दूसरे किनारे पर ताजमहल के बिल्कुल सामने एक दूसरा ताजमहल बनवाया जाय जो कि काले संगमर्मर का हो तथा जिसमें वह खुद दफनाया जाय। ताजमहल की लागत शाहजहां का बेटा औरङ्गजेब देख चुका था और उसे यह सह्य नहीं था कि उसका पिता अपनी कब्र के मजार के लिये इतना अधिक रुपया फूंके।

यहां से हम दीवाने आम के पीछे के उस भाग में जाते हैं जहां पर मुगल कालीन कचहरी के कागजात रखे जाते थे। ये कमरे दीवाने आम से लगे हुये हैं और इनमें से आवश्यकता के समय जरूरी कागजात आसानी से निकाल कर दिये जा सकते थे। अब इस स्थान पर विविध प्रकार के सामानों की अनेक दुकानें बन गई हैं। यहां से घूमकर हम मच्छी भवन पर पहुँचते हैं। यहां पर दो चौकियां बनी हुई हैं जिनमें एक सम्राट के लिये थी तथा दूसरी उसकी बेगम के लिये। नीचे चौकोर तालाब था। यह तालाब अंग्रेजों ने भरवा दिया था। अब यहां पर मैदान है।

इसके पश्चात् हम दीवाने खास और तख्तगाह पर पहुंचते

हैं। नख्तगाह में पत्थर के दो तख्त रखे हुये हैं। एक काले संगमर्मर का है तथा दूसरा सफेद संगमर्मर का। काले संगमर्मर के तख्त के बारे में एक कथा है। कहा जाता है, कि अकबर के पुत्र सलीम ने अकबर से विद्रोह किया था जिसके फलस्वरूप सलीम इलाहाबाद चला गया। इलाहाबाद में सलीम ने काले संगमर्मर का तख्त बनवाया जो कि कुछ समय पश्चात् आगरे लाया गया। इस तख्त पर बैठकर मुगल सम्राट जङ्गली जानवरों की लड़ाई देखा करते थे। अब यह तख्त एक स्थान से टूट गया है। काले संगमर्मर के तख्त के सामने का सफेद तख्त दरबार के मसखरों के लिये था जो कि सम्राट का दिल बहलाया करते थे।

यहीं पर दीवाने खास है जिसको १६३७ में शाहजहां ने बनवाया। दीवाने खास सफेद संगमर्मर का बना हुआ है। ऐसा समझा जाता है कि मुगल सम्राट इसी स्थान पर राजाओं, राजदूतों तथा अमीर उमराओं से मिला करता था तथा यह मंत्रणा गृह के रूप में भी प्रयोग में लाया जाता था।

दीवाने खास की सामने की दीवार में नदी वाले किनारे पर एक बड़ा सा छेद हो गया है। इसके बारे में कहा जाता है कि जब अंग्रेजों ने किले पर तोपें लगाकर तोप के गोले की वर्षा की तो एक गोला काले संगमर्मर के तख्त से टकराता हुआ फिसलकर दीवार में लगा जिसके कारण उसमें छेद हो गया है। परन्तु थोड़ा सोचने पर यह बात कुछ समझ में नहीं आती। इस सम्बन्ध में हमारा अपना विचार यह है कि तोप का गोला सीधा ही दीवाने-

खास की दीवार में लगा होगा। तख्त पर जो निशान हैं वह किसी और कारण से हुये होंगे।

इसके पश्चात हम जनाने महलों और मुगल सम्राटों के महलों की ओर जाते हैं। पहले हम महल खास में पहुँचते हैं। उसमें बीच में फव्वारा बना हुआ है। यहीं पर चौपड के प्रकार का पचीसी का खेल सगमर्मर के टाइलों से बना हुआ है। कहा जाता है कि मुगल सम्राट और उसकी बेगम इस खेल को खेला करते थे और उनकी चौपड की गोटों के स्थान पर नवयुवतियां खडी हुआ करती थीं और एक खाने से दूसरे खाने तक जाने के लिये उन्हें नाचते हुये जाना होता था। इस जनाने महल में, जितने भी मूल्यवान पत्थर थे या सोना था उसमें से अधिकांश जाट निकाल कर ले गये। इस समय महल की छतें काली पडी हुई हैं जो इस बात का प्रमाण देती हैं कि किस प्रकार से मशालों द्वारा सोना को पिघला कर निकाला गया होगा। इसी महल के छज्जे में शाहजहां बैठकर ताजमहल को देखा करता था और यहीं पर वह स्थान है जिसमें एक बहुमूल्य पत्थर लगा हुआ था जिससे कि शाहजहां अपनी बूढी आंखों से अपनी प्रियतमा की याद को निहार सके। इस मूल्यवान पत्थर को कहा जाता है कि वे अंग्रेज निकाल ले गये जो कि अपने को एक दम ईमानदार बतलाते थे। अब इस स्थान पर साधारण पत्थर लगा हुआ है परन्तु इसमें से धुंधला सा ताज अब भी दीखता है।

इसके साथ में लगा हुआ रोशनारा का महल है। इस महल

की गुम्बदें सोने की थीं जिनको जाट निकाल ले गये। अब यहा पर पीतल की गुम्बदें जिन पर सोने का पानी फिरा हुआ है लगाई हुई हैं।

इस महल की दीवारों में आलो के नीचे गुल्लकें बनी हुई हैं। गुल्लकों के विषय में एक विशेषता है। दीवारों में गुल्लकों पर जो पत्थर लगा हुआ है वह अल्पपारदर्शक है जिसमें से प्रकाश गुल्लकों में पहुचता रहता है। यदि आप पत्थर पर हाथ फेरें तो अपने हाथ के हिलने का प्रभाव उस पर साफ दिखाई पडता है।

इसी के साथ जहानारा का महल भी बना हुआ है। यह भी रोशनारा के महल की तरह ही है। लीजिये अब हम शीश महल में पहुचते है। इसको शाहजहा ने बनवाया था और यह खास महल का ही एक भाग है। इसका नाम शीशमहल इस लिये पडा कि इसकी दीवारो में अनगिनत शीशे लगे हुये हैं। आप कहीं खडे हो जाइये आपको अपने प्रतिबिम्बों की कतार की कतारें दिखाई देंगी। यह महल स्त्रियों के स्नान का स्थान था। इसमे एक गर्म पानी का हौज है तथा एक ठण्डे पानी का। दोनों हौज संगमर्मर के बने हुये हैं। ऊपर एक हौज है जिसमे गुलाबजल आदि रहता था। यहीं से एक मार्ग यमुना को भी जाता है। यह इसलिये था कि यदि स्त्रियों का मन हौज में नहाने से न भरे तो वे आसानी से जाकर यमुना में स्नान कर सकें।

महल खास में एक स्थान पर एक दरवाजा रखा हुआ है इसके बारे में कहा जाता है कि जब महमूद गजनी ने सोमनाथ पर

चढ़ाई की और वह अपनी विजय के पश्चात् वापिस लौटा तो सोमनाथ से शुद्ध चन्दन की लकड़ी का दरवाजा भी ले गया। बाद मे १८४२ मे लार्ड एलनबरा के समय मे जनरल नौट काबुल से उस दरवाजे को सोमनाथ का दरवाजा समझकर लाया। परन्तु जब वह आगरे में पहुचा तो उसको विदित हुआ कि यह दरवाजा जो वह लाया है असली नहीं है तथा और किसी स्थान का है। इसके बाद वह दरवाजे को यहीं छोड़ गया। कुछ स्थानों पर यह दरवाजा गल गया है। वहा पर दूसरे प्रकार की लकड़ी लगा दी गई है।

यहीं पर महल खास के नीचे तहखाने हैं। तहखाने ३ मंजिल मे बताये जाते हैं। पहली मंजिल का स्थान मुगल सम्राटो और महलों में बसे अन्य व्यक्तियो के लिये गर्मी में रहने के काम आता था। जब गर्मी अधिक पड़ती थी तो बादशाह आदि यहां तहखाने मे आ जाते थे। इसके नीचे की मंजिल मे फांसीघर था जिसमें दासियों आदि को फांसी दी जाया करती थी। उसके पश्चात उनके शरीर यमुना की शांत गोद मे बहा दिये जाते थे। उसके नीचे फतहपुर सीकरी आदि जाने के लिये गुप्त मार्ग थे जो आवश्यकता के समय उपयोग मे लाये जा सकते थे। इस समय नीचे के तहखानों की कोई भी रक्षा आदि नहीं की जाती है और वे दीनहीन दशा में पड़े हुये हैं। सत्य तो यह है कि अब ये सांप, बिच्छू आदि विषैले जीवों और चिमगादड़ों के घर बने हुये हैं।

इसके बाद हम जोधाबाई के महल पर पहुंचते हैं। जोधाबाई

का महल हिन्दू कारीगरी पर बना हुआ है। अभी तक के महलों और दूसरी इमारतों में मुगलकाल की व मुसलमानी कारीगरी की झलक अधिकता से पाई जाती थी इसमें हिन्दू कारीगरी की झलक दिखाई देती है। महल में एक ओर मंदिर था जिसमें हिन्दुओं के विविध देवताओं की मूर्तियां प्रतिष्ठित थीं। कहते हैं कि जब औरंगजेब राजगद्दी पर बैठा तो वह उस सबको सहन न कर सका और उसने समस्त मूर्त्तियां यमुना में फिंकवा दीं। जोधाबाई के महल में एक स्थान पर पानी की घड़ी बनी हुई है। यह धूप घड़ी के प्रकार की ही होती है और इसमें एक छड़ी की परछाई देखकर समय जाना जाता था।

जोधाबाई के सम्बन्ध में यह बात कही जाती है कि वह अपने धार्मिक विचारों में स्वतंत्र थी। अपने विश्वास के अनुकूल उसे पूजा पाठ की पूर्ण सुविधायें प्राप्त थीं। अकबर ने उसे किसी समय भी इस बात से नहीं रोका कि वह इस्लाम के विपरीत पूजा पाठ क्यों करती है।

जोधाबाई के विवाह होने का मुख्य कारण राजपूतों का पारस्परिक कलह ही था। अकबर ने उनकी फूट से पूरा लाभ उठाया। उसने हिन्दुओं के विद्रोह को शान्त करने की एक ऐसी नीति को अपनाया जिससे विप्लव की अग्नि न भड़कने पाये। इतिहासकारों का मत है कि अकबर ने कुछ अंश में हिन्दू धर्म की विचारधारा को स्वीकार कर लिया था। वह हिन्दुओं के अनेक उत्सवों और समारोहों में भी भाग लेता था। यही कारण था कि उसने आगरे

के किले में जोधाबाई की पूजापाठ का समुचित प्रबन्ध किया।

मुगल सम्राटों के पश्चात् पहले यह किला जाट राजाओं के हाथों पड़ा जिनके द्वारा इसमें काफी विनाश हुआ। उसके पश्चात् मराठों ने इस पर आधिपत्य स्थापित किया और अन्त में १८०३ में अंग्रेजों ने इस पर कब्जा किया और उसके पश्चात् से १९४७ तक, भारत के स्वतन्त्र होने तक यह अंग्रेजों के ही हाथों में रहा। अब यह भारत सरकार के अधीन है और भारत सरकार इस बात की देखरेख के लिये कि इसमें अब और कोई विनाश न हो पूरा पूरा प्रयत्न करती है।

आगरे के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। आगरा भारत के ऐतिहासिक नगरों में अपनी उपमा नहीं रखता तथा विदेशी भ्रमण कर्ताओं की दृष्टि से यह कभी नहीं बचता। जो भी विदेशी भारत में भ्रमण के हेतु आता है यहां आकर भारतीय और मुगलकालीन सभ्यता को देखे बिना नहीं जाता। इस प्रकार यह विदेशी पैसा कमाने का एक अच्छा साधन बना हुआ है।

किले के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि किला अर्ध धनुषाकार है तथा किले की परिधि १½ मील के लगभग है।

ऐतिहासिक तथ्य

आगरे का प्राचीन नगर यमुना के पूर्वी किनारे पर बसा हुआ था तथा भगवान कृष्ण के समय ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व एक वृहत् नगर था। उसके पश्चात् इस बात के प्रमाण आज के आगरे के किले में जहांगीरी महल के सामने की खुदाई में प्राप्त कुछ पुरानी इमारतों में होते हैं कि सम्राट अशोक ने ईसा से लगभग २५० वर्ष पूर्व यहां पर शासन किया था।

आगरे का नवीन नगर जैसा कि हम देखते हैं, १५५८ ई० में अकबर ने यमुना के पश्चिमी तट पर बनवाया था और इसको अभी तक भी अकबराबाद के नाम से पुकारा जाता है।

सुल्तान सिकन्दर लोदी के समय में (१५०३ में) भी आगरा राजधानी रही है जो कि आज के आगरे से लगभग ६ मील दूर थी। इस स्थान का इस समय सिकन्दरा नाम है और यहीं पर अकबर की कब्र बनी हुई है।

मुगलकाल के इतिहास में आगरे का वर्णन बाबर के समय में ही आता है। बाबर ने यमुना के पूर्वी किनारे पर एक उद्यान और महल बनवाया था तथा उसी में वह १५३० में मरा।

इसके पश्चात हुमायूं का बादलगढ़, आगरे के पुराने किले में ही राज्याभिषेक हुआ था तथा उसके शासन के प्रथम दस वर्षों में देहली से आगरा अधिक समय तक राजधानी के रूप में प्रयोग किया गया था।

अकबर जो कि आगरे के नवीन नगर का जन्मदाता समझा जाता है आगरे में सबसे पहले १५५८ में आया था तथा यहां पर १५६६ में एक किला जो कि आज आगरे के किले के नाम से प्रसिद्ध है, बादलगढ़ के पुराने किले के स्थान पर उसको ढवाकर बनवाना प्रारम्भ किया था।

१५६६ में अकबर फतहपुर सीकरी में शेख सलीम चिश्ती के पास गया था और अकबर ने उसके पश्चात् फतहपुर सीकरी में ही अपनी राजधानी बनवाई। यहां पर वह १५७५ से १५८६ तक रहा परन्तु बाद में चिश्ती की इच्छा के कारण सीकरी को छोड़ दिया गया।

५० वर्ष के शासन के पश्चात् आगरे के किले में अकबर का देहान्त ६३ वर्ष की अवस्था में हुआ। सिकन्दरा में अकबर की कब्र है जिसको उसने स्वयं बनवाना प्रारम्भ किया था और जहांगीर द्वारा समाप्त कराई गई थी।

१६०५ में अकबर के पश्चात् आगरे के किले में सलीम का राज्याभिषेक हुआ तथा उसका नाम जहांगीर रखा गया।

१७५६ में आगरा पहले मरहठों के हाथ पड़ा और उनसे जाटों के हाथ। जाट राजाओं में भरतपुर के सूरजमल, जवाहरसिंह तथा केसरीसिंह मुख्य हैं। उन्होंने ताजमहल और आगरे के किले में काफी लूट मचाई जिसके प्रमाण अभी तक मौजूद हैं। जाटों के पश्चात् मरहठों ने फिर आगरे पर अधिकार किया और लगभग १८ वर्ष तक राज्य किया। १८०३ में लार्ड लेक नामक अंग्रेज ने

इस पर अधिकार किया। १८४८ तक यह अंग्रेजो के समय में भी राजधानी के रूप मे प्रयोग होता रहा तथा यहा पर उच्च न्यायालय आदि भी रहे।

यमुना के पश्चिमी किनारे पर अर्द्ध चन्द्राकार रूप में आगरे का महान किला बना हुआ है। इसको १५६६ मे अकबर ने, बादलगढ के पुराने किले के स्थान पर जिसको सलीम शाह सूर ने बनवाया था, बनवाना प्रारम्भ किया और ८ वर्ष में बनकर समाप्त हुआ। किले के चारों ओर लाल पत्थर की दो दीवारें हैं जिनमें बाहर की ४० फीट ऊंची है तथा अन्दर की ७० फीट ऊंची है। बाहरी दीवार के चारों ओर ३० फीट चौड़ी तथा ३५ फिट गहरी खाई है जो कि शाहबुर्ज से लेकर पानी दरवाजे तक को छोड़कर चारों ओर बनी हुई है।

किले के चार दरवाजे हैं। उत्तर की ओर का दरवाजा देहली दरवाजा कहलाता है क्योंकि इसका मुख देहली की ओर है। दक्षिण की ओर अमरसिंह द्वार है, पूर्व मे समन बुर्ज के समीप जल दरवाजा है तथा एक उत्तर-पूर्व मे शाह बुर्ज के समीप एक द्वार था। इस समय जनता के लिये केवल अमरसिंह द्वार खुला रहता है, यहीं से सब किले मे प्रवेश करते हैं और यहीं से लौटते हैं।

देहली दरवाजे का नाम हाथी पोल भी था यहा पर अकबर ने दरवाजे के दोनों ओर लाल पत्थर से पूरे आकार के दो हाथी जिनमें एक पर चित्तौड़ के राजा जयमल बैठे थे तथा दूसरे पर उनके भाई फत्ता थे, बनवाकर लगवाये थे। यह दोनों हाथी

अकबर की १५६८ की चित्तौड़ विजय के चिन्ह स्वरूप थे। शाहजहां की मृत्यु के बाद १६६६ में औरंगजेब ने इनको तोड़फोड़ दिया और देहली में लाल किले में दीवाने आम के पास दबवा दिया जहां से उनको १८६३ में प्राप्त किया गया।

सम्मन बुर्ज, कहा जाता है कि जहांगीर ने अपनी प्रियतमा नूरजहां के लिये बनवाया। यह भी कहा जाता है कि उसके अन्दर का पच्चीकारी का नमूना नूरजहां ने स्वयं बताया था। बाद में इसमें मुमताज महल, शाहजहां की बेगम रहा करती थी। शाहजहां का दिसम्बर १६६६ में अष्टाकार कमरे में देहान्त हुआ तथा उस समय जहांनारा बेगम शाहजहां के पास थी।

इलाहाबाद दुर्ग

इलाहाबाद दुर्ग

इलाहाबाद में यमुनातट पर जो किला विद्यमान है, उसके साथ अकबर के समय से लेकर अंग्रेजों के पतन तक का इतिहास ही सीमित नहीं है किन्तु इसका सम्बन्ध बौद्ध कालीन संस्कृति के साथ भी जुड़ा हुआ है। इतिहास से प्रगट होता है कि ह्वेन साग नाम के एक चीनी यात्री ने सन ६४३ ई० में प्रयाग की यात्रा की थी। इसने अपनी यात्रा में गंगा यमुना के संगम के समीप एक देव मन्दिर होने का वर्णन किया है जिसके सामने एक विशाल वट-वृक्ष था।

जिस समय इस किले का निर्माण कराया गया तो यह वट-वृक्ष तथा देव मन्दिर दोनों ही किले के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये। आज भी किले में वह देव मन्दिर विद्यमान है जिसमें अनेक देवी देवताओं की मूर्तियां स्थापित हैं। आज भी लाखों यात्री वट-वृक्ष की पूजा करने के लिये आते हैं और अपने विश्वास के अनुसार उसे पूजते हैं।

इलाहाबाद के किले का सविस्तार वर्णन करने से पूर्व हम इस स्थान की ऐतिहासिक महत्ता पर दृष्टि डालना आवश्यक समझते हैं। इलाहाबाद का प्राचीन नाम प्रयाग है। जिसका शब्दार्थ यज्ञ के लिये नियत की हुई भूमि है। प्रयाग का वर्णन मनुस्मृति, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में मिलता है। कालीदास ने अपने ग्रन्थ रघुवंश में इसका वर्णन किया है। कालीदास ने श्री रामचन्द्र के

मुख से कहलवाया है 'हे देवी सीता ! गंगा यमुना के सगम की शोभा का अवलोकन करो'। महाकवि तुलसीदास जी ने भी अपनी रामायण मे प्रयाग राज का वर्णन करते हुये लिखा है—

> को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ ।
> कलुप पुंज कुंजर मृगं राऊ ॥
> अस तीरथपति देखि सुहाया ।
> सुख सागर रघुवर सुख पाया ॥
> कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई ।
> श्री मुख तीरथ राज बडाई ॥

यह वर्णन उस समय का है जब श्री रामचन्द्र अपने अनुज भ्राता लक्ष्मण तथा अपनी पत्नि सीता के साथ वन गमन के लिये गये और मार्ग में वे प्रयाग राज में पहुचे। यहा पर सभी ने स्नान किया और शिव की पूजा की और इसके पश्चात वे भारद्वाज मुनि के आश्रम की ओर चल दिये।

इससे पूर्व गोस्वामी तुलसीदास जी ने संगम का वर्णन इस प्रकार किया है—

> सगम सिंहासन सुठि सोहा ।
> छत्र अखय वटु मुनि मन मोहा ॥
> चवर जमुन अरु गंग तरंगा ।
> देखि होहि दुख दारिद भंगा ॥
> पूजहि माधवपद जल जाता ।
> परसि अक्षयवट हरखहि गाता ॥

भारत में देवी देवताओं का जिस समय प्राबल्य था, उस समय गंगा यमुना के मिलन स्थल पर, जिसे संगम कहा गया है एक देवता की भी कल्पना की गई जिसका नाम 'वेणीमाधव' रक्खा गया। वेणीमाधव देवता की आज भी पूजा होती है और यात्री उन के नाम पर भेंट चढ़ाते और अपनी मनोकामना की सिद्धि करते हैं।

रशीदुद्दीन मुस्लिम इतिहासकार ने अपनी पुस्तक 'जामुल तवारीख' में प्रयाग के अक्षयवट का उल्लेख किया है। यह पुस्तक १३१० ई० में लिखी गई थी।

चीनी यात्री ह्वेन साग ने अपने वर्णन में लिखा है कि प्रयाग राज में कन्नौज के राजा हर्षवर्द्धन प्रति पाचवें वर्ष आया करते थे और अपने राजकोष का प्रचुर धन दान में दिया करते थे। उसने लिखा है—

'राजधानी के पूर्व की ओर और गंगा यमुना के संगम पर लगभग १० ली (५ ली बराबर १ मील) चौड़ी सफेद बालू से ढकी हुई ढलुआ भूमि है, जहा धूप रहती है। उसे दान क्षेत्र कहा जाता है। प्राचीन समय से राजा और उदार दाता वहा जाकर दान देते और भेंट पूजा करते रहे हैं।" इस क्षेत्र के वर्णन से पता चलता है कि उस समय गंगा झूसी की तरफ बहती थी और संगम क्षेत्र २ मील चौड़ा था।

चीनी यात्री ह्वेन साग ने कन्नौज के राजा शिलादित्य के प्रयाग जाने और उनके वहा दान करने का सुन्दर वर्णन किया है। उसने लिखा है 'वे दान के लिये तैयार होकर आये थे और उन्होंने

इलाहाबाद की कलक्टरी के कार्यालय में किले के सम्बन्ध में जो दस्तावेज विद्यमान है उसमें किले को ३८ जरीब लम्बा और ७६ जरीब चौड़ा बनाया गया है। उसका क्षेत्रफल ६८३ बीघा था। इसके बनाने में ६ करोड़ १७ लाख रुपये व्यय हुये। आधार शिला रखने के पश्चात् ४५ वर्ष तक इस किले का निर्माण होता रहा। किले के निर्माण कार्य का निरीक्षण शाहजादा सलीम, राजा टोडरमल, भारथ दीवान, प्रयागदास, सैयद खां आदि ने किया था।

अकबर ने अपने पुत्र सलीम को इलाहाबाद का शासक बनाया। यही सलीम बाद को जहांगीर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहांगीर ने अपने पिता अकबर के विरुद्ध विद्रोह किया। उसने सैनिकों को अपने पक्ष में करके इलाहाबाद नगर और दुर्ग को अपने संरक्षण में ले लिया।

इतिहास में अनेक ऐसी घटनायें हैं जिनका इस दुर्ग के साथ गहरा सम्पर्क रहा है। औरंगजेब ने भी इस दुर्ग का काफी समय तक प्रयोग किया। प्रसिद्ध फ्रांसीसी पर्यटक बर्नियर १६६५ ई० में इलाहाबाद आया था जबकि औरंगजेब यहां राज्य करता था। उसने इस दुर्ग के भीतरी भाग को देखा था और यहां की अनेक इमारतों का उसने वर्णन भी किया।

प्रयाग गंगा तट पर १६६८ ई० में शिवाजी अपने पुत्र शम्भा जी के साथ आये थे जबकि वे आगरा से दक्षिण वापिस गये थे।

दुर्ग के भीतर पातालपुरी मंदिर के सम्बन्ध में अनेक

स्थायें प्रचलित हैं। १७६६ में इस पातालपुरी मंदिर के सम्बन्ध में एक डच मिशनरी टिफेन थालर ने लिखा है—

'दुर्ग के भीतर दक्षिण पूर्व की ओर पत्थरों से बनी हुई एक कंदरा है। जब कोई इस तंग मार्ग में प्रवेश करता है तो उसे यह ५ या ६ कदमों की सड़क तथा ७ पगों की लम्बाई से फटकर त्रिभुजाकार मालूम पड़ती है। इस पतले तथा अंधेरे मार्ग से जाने के लिये प्रकाश आवश्यक है। दीवारें पत्थरों से बनी हुई हैं और दीवारों के पत्थरों को काटकर राम, गणेश, पार्वती आदि देवताओं की मूर्तियां रखी हुई हैं। महादेव का अश्लील चित्र भी तीन या चार स्थानों में रखा हुआ है। इसी कंदरा के एक चौकोर पत्थर में महादेव के पैरों के चिन्ह भी दिखाई देते हैं।"

मि० टिफेन थालर ने अक्षयवट के सम्बन्ध में भी अपना अनुभव लिखा है। उसका कथन है—

"इन मूर्तियों की अपेक्षा वे एक वृक्ष के प्रति जिसे हिन्दुस्तानी में बड़ कहते हैं, अधिक सम्मान प्रगट करते हैं। यह कंदरा में स्वयं निकसित होता है तथा सदैव हरा रहता है। इसकी शाखायें दो समान भागों में विभक्त हैं। इसमें पत्तियां नहीं हैं फिर भी इसमें रस है और यदि चाकू से काटा जाता है तो इसमें से एक प्रकार का दूध निकलता है। हिन्दू अपने इस पवित्र वृक्ष को सूखने से बचाने के लिये सर्वदा इसकी जड़ सींचते हैं। साथ ही सुगंधित पुष्प ऊपर रख देते हैं। पत्थर की दीवारों के कारण वृक्ष बढ़ नहीं सकता है।"

पातालपुरी मन्दिर तथा अक्षयवट के सम्बन्ध में और भी अनेक यात्रियों ने वर्णन किया है। आज भी इसकी पूजा प्रतिष्ठा के लिये दूर दूर के यात्री आते हैं। संगम स्नान के पश्चात् वे इसके दर्शन करते हैं। कहा जाता है कि वर्तमान अक्षयवट का तना प्रति तीन या चार वर्ष में परिवर्तित कर दिया जाता है।

अभी १९५४ के कुम्भ पर्व पर अक्षयवट के लाखों यात्रियों ने दर्शन किये और इसकी पूजा की। यद्यपि ३ फर्वरी १९५४ को संगम क्षेत्र में दुर्घटना के कारण अनेक यात्री कुचल कर मर चुके थे परन्तु फिर भी लाखों यात्री उसके पश्चात् भी किले के द्वार से प्रवेश पाकर इसके दर्शन करते रहे। न जाने कितनी प्राचीन श्रद्धा और भक्ति इस मन्दिर तथा अक्षयवट के साथ जुड़ी हुई है जो मनुष्य को महान संकट उठाने के लिये भी विवश कर देती है। हमने स्वयं ५ फर्वरी को ऐसे सहस्रों यात्री दुर्ग के द्वार पर देखे जिन्होंने एक फर्लांग लम्बी पंक्ति बना रक्खी थी और जिनमें से बहुत से भाई बहिनों के सिरों पर सामान भी रक्खा हुआ था परन्तु फिर भी वे इंच इंच सरकते हुये किले के अन्दर प्रवेश पाने के लिये आतुर थे।

हम अक्षयवट तथा पातालपुरी मंदिर की विशेष चर्चा न करते हुये दुर्ग के अन्य स्थलों का वर्णन करना आवश्यक समझते हैं। विलियम फिंच ने इस दुर्ग का १६११ ई० में अवलोकन किया था। उन दिनों ही यह दुर्ग बना था। उसने इसकी सुन्दरता तथा विशालता की बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है "इस किले की

शान का मुझपर बड़ा प्रभाव पड़ा।" सन् १७८२ में फारेस्टर नाम के व्यक्ति ने दुर्ग के शाही महल की बड़ी प्रशंसा की है। उसने लिखा है— महल का ऊपरी भाग संगमरमर का बना हुआ था जो विचित्र प्रकार के रंगों और असामान्य रूप से सुन्दर कारीगरी से सजा हुआ था।

इसके पश्चात दुर्ग पर ईस्ट इंडिया कम्पनी का अधिकार हो गया। पादरी हिबर ने इसे सन् १८२४ में देखा उसने जहां किले के भीतर महलों की प्रशंसा की है, वहां उसने यह भी लिखा है कि किले के उस समय के अधिकारियों ने अपनी आवश्यकता के लिये उसमें परिवर्तन करके उसकी दुर्दशा कर दी।

चेहल सितून महल—

किले में चेहल सितून महल एक अत्यन्त सुन्दर भवन था। इसके सम्बन्ध में मि० फर्गूसन ने अपनी पुस्तक भारतीय और पूर्वी स्थापत्य कला का इतिहास' में भी वर्णन किया है। वह लिखता है— "किले में सबसे अधिक सुन्दर इमारत चेहल सितून (चालिस स्तम्भ) थी। ये स्तम्भ ऐसे बनाये गये थे कि उनसे दो अष्ट भुज बन जाते थे। बाहरी अष्ट भुज चौबीस खम्भों से बनता था और शेष सोलह खम्भे भीतरी अष्टभुज बनाते थे। इसकी ऊपरी मंजिल में भी इतने ही खम्भे उसी तरह बने हुये थे और उनपर गुम्बद बना हुआ था।"

परन्तु आज दर्शक इस इमारत को नहीं देख सकता क्योंकि यह पूरी इमारत नष्ट हो गई है और उसका सामान चार दीवारी

की मरम्मत के लिये प्रयोग में लाया जाता रहा है। बड़े हाल की लकड़ी की कुछ नक्काशी अभी तक देखने में आ रही है। यह हाल शस्त्रास्त्र के कारखाने के रूप में प्रयुक्त हो रहा है। उसके बाहरी भागों के बीच में ईंट की दीवार बना दी गई है। उसका मंडप व अन्य वस्तुयें वहां से हटा दी गई हैं।

किले की दूसरी दर्शनीय इमारत बेगमों का 'जनाना महल' है। इस महल में पहिले ६४ खम्भे थे जो आठ पंक्तियों में विभाजित थे। जिस समय अंग्रेजों ने इस किले पर अधिकार किया तो उन्होंने इस जनाने महल को भी शस्त्रागार के रूप में परिवर्तित कर लिया। बहुत वर्षों तक यह इसी काम में लाया जाता रहा परन्तु लार्ड कर्जन ने इसे खाली कराके फिर महल का रूप दिया। इसे सुसज्जित करने का प्रयत्न किया गया।

अंग्रेजी शासन काल में समय समय पर किले की इमारतों में परिवर्तन किये गये। सुरक्षा की दृष्टि से इसकी कुछ पुरानी दीवारें और मीनारें गिरा दी गईं। अंग्रेजों का दृष्टिकोण इसे सेना के लिये प्रयोग में लाना था अतः उन्होंने इसे शस्त्रागार तथा सेना का निवास स्थान बना लिया।

अशोक की लाट—

इलाहाबाद के किले में अशोक की लाट (स्तम्भ) भी एक दर्शनीय वस्तु है। अशोक ने यह स्तम्भ २३२ ई० पू० में कौशाम्बी में स्थापित की थी। इसे वहां से उठवाकर इस किले में लाया गया और इसको पुनः प्रस्थापित किया गया। इस स्तम्भ पर अशोक के

६ आदेश अङ्कित हैं। इनमें अशोक ने अपने अन्तर्गत कार्य करने वाले अधिकारियों को अनेक उपदेश व आदेश दिये हैं जिनका अभिप्राय यह है कि वे गर्व, क्रोध, निर्दयता, ईर्ष्या आदि दुर्भावनाओं का परित्याग करें। दूसरों का हित करना, दान देना, पवित्र जीवन व्यतीत करना तथा सत्य का आचरण करना ही धर्म है। अधिकारियों को आदेश दिया गया है कि वे जनता की रक्षा तथा उसकी देखभाल का सदैव पूरा ध्यान रखें। उनके कष्ट और दुःख को अपना कष्ट अनुभव करें।

अशोक की लाट के आदेश मुख्य रूप से कौशाम्बी के शासकों के नाम अंकित किए गए थे। सम्भव है इसी से जनरल कनिंघम ने यह अनुमान लगाया कि यह स्तम्भ मूल रूप में कौशाम्बी में लगाया गया होगा। जनरल कनिंघम के मतानुसार इस स्तम्भ को फीरोजशाह तुगलक के समय में कौशाम्बी से प्रयाग लाया गया क्योंकि उसी के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसी प्रकार की एक अन्य लाट उठाकर वह देहली ले गया था। इलाहाबाद दुर्ग के निर्माण के उपरान्त इस लाट को जहांगीर ने उठवाकर दुर्ग के भीतर रखवा लिया होगा।

अशोक की यह लाट ३५ फिट ऊंची है। नीचे इसका व्यास ३ फिट ११ इंच है और ऊपर दो फिट दो इंच है। इसका सबसे ऊपरी भाग अब नहीं है और अनुमान है कि अशोक कालीन शेरों का चिन्ह इस पर अंकित रहा होगा।

अशोक की इस लाट पर समुद्रगुप्त के समय का एक विस्तृत

लेख भी मिलता है। समुद्रगुप्त ने सन् ३२६ ई० में शासन संभाला। उसके लम्बे शासनकाल में समस्त भारत विजय किया जाकर एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। अशोक की इस लाट पर समुद्रगुप्त की विजयों का उल्लेख है और स्वयं समुद्रगुप्त के समय का लिखा होने के कारण इतिहास के पाठकों की विशेष ज्ञान वृद्धि का साधन है। एक लेख जहांगीर कालीन भी इस पर अंकित है तथा विभिन्न समयों में अनेकों यात्रियों द्वारा उस पर मनमानी बातें लिखी गईं। जिस ढंग से यह बाद को लिखाई की गई हैं उनसे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह स्तम्भ कई बार उखड़ा, पड़ा रहा और स्थापित होता रहा। विभिन्न लिपियों से यह अनुमान लगाने का प्रयत्न किया गया है कि किस समय में यह उखड़ा और किस समय में यह लगा। सम्भवतः अशोक के कुछ समय बाद यह गिर गया हो तथा समुद्रगुप्त ने इसे पुनः स्थापित कराया हो।

इसके बाद सम्भवतः अलाउद्दीन खिलजी के समय तक यह स्तम्भ खड़ा रहा। फीरोज तुगलक ने इसे पुनः स्थापित किया किन्तु कुछ ही समय बाद जहांगीर उठवाकर किले में ले आया। जहांगीर के बाद फिर एक बार इसके उखाड़े जाने का उल्लेख मिलता है। सन् १७६८ ई० में जनरल कैड ने इसे गिराया और अन्त में सन् १८३८ ई० में इसको वर्तमान स्थान पर पुनः स्थापित किया गया। इस स्तम्भ पर बाद की खुदाइयों में से एक से पता लगता है कि सन् १५७५ ई० में माघ मेले के अवसर पर राजा बीरबल प्रयाग आया था।

ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर पता लगता है कि मुगल सम्राट फर्रुखसियर ने इस दुर्ग में छबीलाराम नागर को नियुक्त किया था। फर्रुखसियर के बाद मौहम्मद शाह गद्दी पर बैठा। छबीलेराम ने मौहम्मद शाह को राजा स्वीकार नहीं किया और अगस्त १७१६ ई० में खुला विद्रोह कर दिया। छबीलेराम नागर की सेनाओं ने बंगाल का प्रदेश दिल्ली से अलग कर दिया और बंगाल में मालगुजारी की काफी धनराशि जो देहली को जा रही थी उसे मार्ग में पटना में ही रोक लिया। छबीलेराम को दबाने के लिये अब्दुल्ला की सेनाओं ने आक्रमण किया। छबीलेराम ने इलाहाबाद का दुर्ग अपने भतीजे गिरधर बहादुर की सुरक्षा में छोड़ा और स्वयं उसने यवन सेनाओं को रोकने के लिये किले से कुछ दूर पर मोर्चा बन्दी की किन्तु दोनों सेनाओं में मुठभेड़ होने से पहले ही उस पर फालिज पड़ा जिसमें नवम्बर सन १७१६ में उसका देहान्त हो गया। गिरधर को सन्धि करने के लिये संदेश भेजा गया और बदले में उसे अवध, लखनऊ और गोरखपुर के क्षेत्र देने का वचन भी दिया गया किन्तु गिरधर ने उसे अस्वीकार कर दिया। जो यवन सेना का अग्रिम दल अब्दुल नबी खां के नेतृत्व में इस दुर्ग पर अधिकार करने के लिये आ रहा था उसको बुन्देलों ने मार्ग में काफी परेशान किया। इधर दोआब के हिन्दू राजाओं के साथ इलाहाबाद से केवल दस मील की दूरी पर ही यवन सेनाओं को मोर्चा लेना पड़ा। दुर्ग की प्राचीरों के बाहर जो भीषण युद्ध लड़ा गया वह अनिर्णीत ही रहा। अन्त में ३ मई १७२० को परस्पर एक सन्धि हो गई जिसके

अनुसार गिरधर ने ११ मई को इलाहाबाद दुर्ग खाली कर दिया तथा बदले में उसे अवध प्रदेश ३० लाख रुपये और युद्ध पर किया गया व्यय मिला।

१७२१ में मौहम्मद शाह ने यह दुर्ग फरुखाबाद के मौहम्मद खां को दे दिया जिसने अपनी ओर से भूरे खां को वहां स्थापित किया। ४ वर्ष बाद मौहम्मद खां को छत्रसाल बुन्देले के विरुद्ध युद्ध करने के लिये भेजा गया। वह स्वयं इलाहाबाद दुर्ग में तैयारियां करने के लिये पहुंचा किन्तु दिल्ली से एक नया आदेश आ जाने के कारण छत्रसाल के विरुद्ध कार्यवाही नहीं की गई। १७३२ ई० में यह दुर्ग सर बुलन्द खां को दे दिया गया। १७३५ ई० में मौहम्मद खां ने पुनः प्रयत्न करके इस दुर्ग के लिये अपनी नियुक्ति करा ली किन्तु यह सन्देहास्पद बात है कि उसे दुर्ग पर अधिकार मिल सका या नहीं। सर बुलन्द खां के पुत्र के साथ उसका युद्ध भी हुआ था। किन्तु १७३६ ई० में सर बुलन्द खां का इस किले पर अधिकार होने का उल्लेख मिलता है जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि मौहम्मद खां का इस किले पर अधिकार नहीं हो पाया। ३ वर्ष पश्चात् यह दुर्ग अमीर खां उमदतुल मुल्क को दे दिया गया जिसका अधिकार १७४३ ई० तक रहा। अमीर खां १७४३ में देहली में वध कर दिया गया और उसके बाद अवध के नवाब वजीर सफदर जंग को इलाहाबाद का दुर्ग दे दिया गया।

सफदर जंग को इस प्रदेश का प्रबन्ध करने में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। १७३६ ई० में मराठों ने इस बात की

माग की थी कि हिन्दुओं के तीन महत्वपूर्ण तीर्थ स्थान मथुरा, प्रयाग तथा बनारस उनके अधिकार मे दे दिये जाय। अधिकाश बुन्देलखण्ड उनके हाथो मे आ ही चुका था और समय समय पर वे जमना पार करके दोआब प्रदेश पर आक्रमण करते रहते थे। १७३६ ई० मे राघोजी भोंसले ने इलाहाबाद पर आक्रमण किया और यहा के सहायक किलेदार शुजा खा का वध करके इलाहाबाद को लूटा। इस आक्रमण के फलस्वरूप राघोजी तथा पेशवा के परस्पर सम्बन्ध विकृत हो गये। १७४२ ई० में राघोजी ने पुन इलाहाबाद पर आक्रमण किया किन्तु उसे वापिस लौटना पडा क्योंकि उसके अपने प्रदेश पर गायकवाड ने आक्रमण कर दिया था। इसी वर्ष बाला जी ने इलाहाबाद पर आक्रमण किया। लगभग २ वर्ष बाद राघोजी तथा पेशवाओं के बीच इस बात पर समझौता हो गया कि इलाहाबाद के क्षेत्र की मालगुजारी पेशवाओं को दे दी जाय।

अवध के नवाब वजीर सफदर जग ने दीवान नवल राय कायस्त को इलाहाबाद का गवर्नर नियुक्त किया। १७४६ में नवल राय ने अवध की सेनाओं को लेकर फर्रुखाबाद पर आक्रमण किया तथा वहा के शासक मुहम्मद खा की विधवा से ५० लाख रुपया प्राप्त किया। उसने मुहम्मद खा के पाच पुत्रों को गिरफ्तार कर लिया जिन्हे इलाहाबाद के दुर्ग मे भेज दिया गया। १७५० मे इनका वध कर दिया गया। कहा जाता है कि पाचों को जीवित ही दीवार में चुनवा दिया गया था। इसका मुख्य कारण यह बताया जाता है कि फर्रुखाबाद के तत्कालीन शासक नवाब अहमद खा के हाथों

नवल राय न केवल पराजित हुआ था अपितु वध कर दिया गया था। किन्तु शीघ्र ही अवध का नवाब वजीर स्वयं भी पराजित हुआ। इस सब का परिणाम यह हुआ कि इस सारे प्रदेश में भारी अव्यवस्था उत्पन्न हो गई। इसके पश्चात् कई बार मुस्लिम तथा हिन्दू शासकों के बीच छोटे छोटे संघर्ष हुए और उनमें झूसी तथा दुर्ग का क्षेत्र कई बार लूटा गया।

१७५९ ई० में शाह आलम दिल्ली की गद्दी पर बैठा और उसने बंगाल विजय करने का निर्णय किया। अवध के नवाब शुजाउद्दौला ने शाह आलम की इस गलती का पूर्ण लाभ उठाया। उसने एक ओर शाह आलम को यह विश्वास दिलाया कि बंगाल विजय में उसकी हर प्रकार सहायता करेगा, दूसरी ओर धोखे से उसकी अनुपस्थिति में इलाहाबाद के दुर्ग पर अधिकार कर लिया। १७६० में शाह आलम को बङ्गाल विजय के प्रयत्न में तीन बार हार हुई और १७६१ में पुन एक बार मुँह की खानी पड़ी। फलतः उसने बङ्गाल विजय का विचार छोड़ दिया और अंग्रेजों से संधि कर ली और उनके कठपुतली शासक मीर क़ासिम को बंगाल का शासक स्वीकार कर लिया जिसके बदले में उसे २४ लाख रुपये वार्षिक ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा मिलने का वचन दिया गया। बङ्गाल से दिल्ली लौटते समय मार्ग में शाह आलम शुजाउद्दौला के हाथों पड गया जिसने दो वर्ष तक शाहआलम को कभी इलाहाबाद में कभी लखनऊ में बन्दी बनाकर रक्खा।

सन १७६३ ई० में बंगाल के शासक मीर कासिम ने अंग्रेजों के प्रभुत्व को कम करने के उद्देश्य से अवध के नवाब शुजाउद्दौला

से सहायता मांगी। मुगल सम्राट शाहआलम भी मीर कासिम की सहायता को आ गया परन्तु उनकी संयुक्त सेना को सन् १७६४ ई० में बक्सर के मैदान में अंग्रेजी सेना ने पराजित कर दिया। मीर कासिम भाग गया। शाहआलम कम्पनी की आधीनता में आ गया। इलाहाबाद के किले पर कम्पनी का अधिकार हो गया। शुजाउद्दौला को भी सन्धि करने के लिये विवश होना पड़ा। सन १७६५ ई० में इलाहाबाद में सन्धि हुई। इस सन्धि में इलाहाबाद और कड़ा नवाब वजीर से लेकर शाहआलम को दिये गये। शुजाउद्दौला ने कम्पनी को ५० लाख रुपये हर्जाने के देने का वायदा किया। अंग्रेजों ने बादशाह को २६ लाख रुपया वार्षिक देने का वचन दिया, बदले में बादशाह ने उन्हें बंगाल, बिहार और उड़ीसा में दीवानी के अधिकार प्रदान किये। सन् १७७१ ई० तक शाहआलम इलाहाबाद में खुशरूबाग में रहता था। महादाजी सिंधिया ने जिसका बोलबाला दिल्ली में बहुत था उसे दिल्ली बुलाया। शाहआलम दिल्ली चला गया। अंग्रेजों ने उसकी २६ लाख रुपये की पेंशन बन्द करदी और इलाहाबाद तथा कड़ा को अवध के नवाब शुजाउद्दौला के हाथ ५० लाख रुपये में बेच दिया।

कुछ समय बाद इलाहाबाद दुर्ग नवाब वजीर को दे दिया गया परन्तु दुर्ग में अंग्रेज आफीसरों के अधीन उनकी सेना भी रहने लगी। सन १८०१ ई० में नवाब वजीर सआदत अली खां ने यह दुर्ग अंग्रेजों के अधिकार में दे दिया जिसका कारण यह था कि पूर्व संधि के अनुसार निश्चित किये गये धन का कुछ अंश नवाब कम्पनी को नहीं दे सका था।

अंग्रेजों का आधिपत्य—

अंग्रेजों ने इस दुर्ग को अपनी छावनी का एक मुख्य केन्द्र बना दिया। १८०३ ई० में लार्ड लेक ने अंग्रेजी सैनिक शक्ति को संगठित करके, यहीं से उत्तरी भारत के कई स्थानों पर आक्रमण किये। जिसके फल स्वरूप उन्हें बहुत सा भाग प्राप्त हो गया।

लैफ्टीनैन्ट कर्नल पावल ने इलाहाबाद में अंग्रेजी शक्ति को बढ़ा कर बुन्देलखण्ड पर आक्रमण किया और उसमें इसे सफलता प्राप्त हुई।

१८५७ के प्रथम स्वतंत्रता युद्ध के समय मेरठ से विद्रोह प्रारम्भ होने का समाचार इलाहाबाद में १२ मई को पहुंचा। उस समय इलाहाबाद में अंग्रेजी सेना नहीं थी परन्तु १६ मई को अंग्रेजों ने इधर उधर से कुछ अंग्रेज सैनिक एकत्रित करके यहां रक्खे। परन्तु विद्रोहियों ने ६ जून को इलाहाबाद का खजाना लूट लिया। बहुत से अंग्रेजों को मार डाला। मौलवी लियाकत अली ने दिल्लीपति को अपना राजा घोषित कर दिया। परन्तु यह सब केवल एक सप्ताह तक ही चला। ११ जून को कर्नल नील ने दुर्ग और इलाहाबाद पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। १५ जून को मौलवी लियाकत अली शहर छोड़कर भाग गया। पंद्रह वर्ष के पश्चात् सन् १८७२ में अंग्रेजों ने उन्हे पकड़ लिया और उनपर विद्रोह का अभियोग चलाया। उन्हे देश निकाले का दण्ड दिया गया।

लार्ड केनिङ्ग ने १८५८ में इलाहाबाद को उत्तर पश्चिमी जिलों

का मुख्य केन्द्र बनाया। उनकी आज्ञा से आगरा से प्रधान कार्यालय इलाहाबाद लाया गया उन्होंने जार्ज एडमन्सटन को उत्तर पश्चिमी प्रान्तों का लैफ्टीनेन्ट गवर्नर नियुक्त किया।

लार्ड केनिङ्ग ने १८५८ ई० मे इलाहाबाद में एक बड़ा दरबार किया। उसमे महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढ़ा गया। उसके पश्चात् इलाहाबाद के दुर्ग पर अंग्रेजों का पूर्ण प्रभाव तथा अधिकार स्थापित हो गया।

तीर्थराज प्रयाग के गंगा जल के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अनेक मुसलिम शासकों के लिये यहां का पवित्र जल पीने के लिये भेजा जाता था। इतिहास के पृष्ठों से पता चलता है कि मौहम्मद तुगलक के लिये ऊंटों पर लदकर यहां का गंगा जल दौलताबाद जाया करता था। क्योंकि उसका यह विश्वास हो गया था कि गंगा जल के प्रयोग से उसके मस्तिष्क को शान्ति प्राप्त होगी। इसी प्रकार अकबर भी प्रयाग राज से अपने लिये गगा जल मंगाया करता था। आश्चर्य की बात तो यह है कि कट्टर हिन्दू धर्म विरोधी औरङ्गजेब भी यहां के गंगा जल का सेवन करता था।

यहां के सम्बन्ध मे यह बात भी उल्लेखनीय है कि राजा, महाराजाओं के सिवाय स्वामी शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी दयानन्द आदि धर्म प्रचारक व समाज सुधारक महापुरुष व नेता भी यहां आते रहे। उत्तर भारत मे अंग्रेजी शासन की नींव प्रयाग से ही जमी और भारत की एक मात्र राष्ट्रीय संस्था कांग्रेस का पालन पोषण भी प्रयाग में ही हुआ।

इस दुर्ग के सम्बन्ध मे यह बात विशेष, उल्लेखनीय है कि जहा यह मुगलों ने अपने आमोद प्रमोद तथा शासकीय दृष्टिकोण से बनवाया तथा इनके पतन के उपरान्त अंग्रेजों ने इसे उत्तर प्रदेश का सामरिक महत्व का एक केन्द्र रखा, वहा धार्मिक कृत्यों, पूजा आदि का भी यह एक केन्द्र बना रहा है। इतिहास इस बात को प्रगट करता है कि इसके निर्माण से लेकर आज तक किले के अन्दर अक्षय वट का दर्शन पाताल पुरी मन्दिर की पूजा बराबर चलती रही है। हो सकता है कि युद्ध की स्थिति मे कुछ समय के लिए धार्मिक विश्वास रखने वाले व्यक्तियों को प्रवेश न करने दिया गया हो परन्तु साधारण स्थिति में यह दुर्ग सदैव हिन्दू धर्म के उपासकों के लिए खुला रहा है। अंग्रेजी शासन काल में यद्यपि दुर्ग के अधिकाश भाग मे जन साधारण को घूमने की आज्ञा नहीं थी, परन्तु उन्होंने दुर्ग के उस भाग को जिसमे अक्षयवट तथा पातालपुरी मन्दिर विद्यमान हैं दर्शको के लिए खुला रखने की व्यवस्था की हुई थी तथा उसी के समीप दर्शनार्थी अशोक की लाट को भी देखते रहे।

ऐसी अवस्था होने का मुख्य कारण यह भी हो सकता है कि दुर्ग के समीप कुछ दूरी पर गंगा-यमुना-सरस्वती का संगम विद्यमान है। जिस सगम-स्नान का पुण्य लाभ करने के लिए भारतवर्ष के कोने कोने से यात्री आते रहे और किसी भी सरकार ने चाहे वह मुसलमानों की रही अथवा अंग्रेजों की, पवित्र संगम पर स्नान करने की कोई रोक नहीं लगाई।

गोलकुण्डा दुर्ग

स्थान को पसन्द कर लिया और फिर वहीं पर दुर्ग निर्माण कार्य प्रारम्भ करा दिया।

दक्षिण का बहमनी राज्य—

दक्षिण में हसन कांगू नाम के अफगान सरदार ने १३४७ ई० में बहमनी राज्य की नींव डाली। इस वंश का राज्य लगभग १८० वर्ष तक रहा। इस वंश मे कई प्रतापी राजा हुये। उन्होंने विजयनगर के राजाओं के साथ अनेक बार युद्ध किये। बहमनी राज्य मे दक्षिणी और विदेशी अमीरों के दो दल थे। इनमें परस्पर सदैव लड़ाई रहती थी। इन लड़ाइयों और पारस्परिक षड्यंत्रों के कारण बहमनी राज्य को भारी क्षति पहुँची। बहमनी वंश के हुमायू बादशाह के मंत्री ख्वाजा महमूद गवान ने बहमनी राज्य की दशा को संभालने का प्रयत्न किया।

१४८१ ई० में मोहम्मदशाह तृतीय ने महमूद गवान को मरवा डाला। उसकी मृत्यु के पश्चात् अमीरों ने विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। थोड़े दिनो पश्चात् बहमनी राज्य पांच छोटे २ टुकड़ों मे बंट गया। अहमदनगर में निजामशाही, बीजापुर में आदिलशाही, गोलकुण्डा मे कुतुबशाही, बीदर में बरीदशाही और बरार मे इमादशाही स्थापित हुई। इस प्रकार गोलकुण्डा दुर्ग का निर्माण कुतुबशाही के अन्तर्गत हुआ।

गोलकुण्डा शब्द के बारे मे हमें बताया गया कि वह तेलगू भाषा के 'गोल्ला' तथा 'कुण्डा' दो शब्दों से बना है जिसका अर्थ गड़रिये की पहाड़ी होता है। हो सकता है कि जिस गड़रिये ने

निर्मित किया गया है। यह स्थान हैदराबाद से लगभग आठ मील दूर पश्चिम में है। गोलकुण्डा नगर की भूमि से इस दुर्ग की ऊंचाई २५० फिट है। दुर्ग के चारों ओर खेती होती है। कहा जाता है कि किसी समय इन स्थानों पर सुन्दर सुन्दर उद्यान थे। उन उद्यानों को युद्ध की स्थिति में सैनिकों के निवास स्थान बना दिया जाता था। हैदराबाद से गोलकुण्डा तक जाने का पक्का मार्ग है। आने जाने में कोई कठिनाई नहीं। गोलकुण्डा की बस्ती यद्यपि पहिले से बहुत कम हो गई है परन्तु आवश्यकता की सभी वस्तुयें यहां प्राप्त हो जाती हैं।

दुर्ग का निर्माण—

पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में दक्षिण में छोटे छोटे अनेक राज्य स्थापित हो चुके थे। ईरान के तुर्क कुतुब-उल-मुल्क ने दक्षिण में अपने पैर जमाने का पूरा यत्न किया। उसने जिलानी नाम के एक डाकू पर विजय प्राप्त करने में बड़ी वीरता का परिचय दिया। जिलानी स्वयं एक प्रभावशाली, वीर और लड़ाका सैनिक था। जिलानी को पराजित करने पर कुतुब-उल-मुल्क को १४६५ में वारंगल का शासन भार उपहार रूप में प्राप्त हुआ। १५१२ ई० में कुतुब-उल मुल्क को गोलकुण्डा भी प्राप्त हो गया। इसके पश्चात् कुतुब-उल मुल्क, सुलतान कुली शाह नाम से विख्यात हो गये। उन्होंने दक्षिण में एक विशाल दुर्ग बनवाने का विचार किया। वे एक उपयुक्त स्थान की खोज करने लगे परन्तु इसी बीच एक गड़रिये ने उन्हें एक स्थान दिखाया। यह स्थान ऊंचाई पर था और साथ ही साथ विस्तृत और पथरीला भी था। सुलतान कुली शाह ने गड़रिये द्वारा बताये गये

स्थान को पसन्द कर लिया और फिर वहीं पर दुर्ग निर्माण कार्य प्रारम्भ करा दिया।

दक्षिण का बहमनी राज्य—

दक्षिण में हसन गागू नाम के अफगान सरदार ने १३४७ ई० में बहमनी राज्य की नींव डाली। इस वंश का राज्य लगभग १८० वर्ष तक रहा। इस वंश में कई प्रतापी राजा हुये। उन्होंने विजयनगर के राजाओं के साथ अनेक बार युद्ध किये। बहमनी राज्य में दक्षिणी और विदेशी अमीरों के दो दल थे। इनमें परस्पर सदैव लड़ाई रहती थी। इन लड़ाइयों और पारस्परिक षड्यंत्रों के कारण बहमनी राज्य को भारी क्षति पहुँची। बहमनी वंश के हुमायूं बादशाह के मंत्री ख्वाजा महमूद गवान ने बहमनी राज्य की दशा को संभालने का प्रयत्न किया।

१४८१ ई० में मोहम्मदशाह तृतीय ने महमूद गवान को मरवा डाला। उसकी मृत्यु के पश्चात् अमीरों ने विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। थोड़े दिनों पश्चात् बहमनी राज्य पांच छोटे टुकड़ों में बट गया। अहमदनगर में निजामशाही, बीजापुर में आदिलशाही, गोलकुण्डा में कुतुबशाही, बीदर में बरीदशाही और बरार में इमादशाही स्थापित हुई। इस प्रकार गोलकुण्डा दुर्ग का निर्माण कुतुबशाही के अन्तर्गत हुआ।

गोलकुण्डा शब्द के बारे में हमें बताया गया कि वह तेलगू भाषा के 'गोल्ला' तथा 'कुण्डा' दो शब्दों से बना है जिसका अर्थ गडरिये की पहाड़ी होता है। हो सकता है कि जिस गडरिये ने

सुलतान कुली शाह को यह स्थान बताया हो, उसकी बकरियां इस पहाड़ी पर चरती हों।

सारे दक्षिण में अपना शासन स्थापित करने की दृष्टि से गोलकुण्डा के सुलतानों ने इस दुर्ग के निर्माण पर लाखों रुपये व्यय किये। इसकी प्राचीरों को बहुत ही सुदृढ़ बनाया गया। इसमें ८७ त्रिकोण बनाये, जिनपर अब तक कुतुब शाही काल की तोपें लगी हुई हैं।

दुर्ग के भीतरी भाग में अनेक ऐसे भवन निर्माण किये गये जो अपनी कला के लिये आज भी विख्यात हैं। भवन निर्माण कला में, यद्यपि मुगलों ने विशेष ख्याति प्राप्त की परन्तु उनसे पूर्व मुसलमानों द्वारा किये गये निर्माण कार्यों में भी भारतीय भवन-निर्माण कला की उत्कृष्ट झलक दिखाई पड़ती है। गोलकुण्डा के प्रवेश द्वार में एक विशेषता है। प्रवेश द्वार की गुम्बज के मध्य में खड़े होकर ताली बजाने से गुम्बज गूंज उठती है। यही गूंज बालाहिसार (रंग महल) में घंटा बजने की सी ध्वनि उत्पन्न कर देती है। इस ध्वनि के बारे में अनेक परीक्षण किये जा चुके हैं परन्तु अभी तक यह ज्ञात न हो सका कि ऐसी ध्वनि उत्पन्न होने में कौन वस्तु सहायक है। कहा जाता है कि दुर्ग का निर्माण करते समय यह व्यवस्था की गई थी। इस व्यवस्था का मुख्य प्रयोजन यह था कि यदि शत्रु किसी समय दुर्ग में प्रवेश करे तो उसकी सूचना तत्काल रंगमहल में पहुंच जाय।

इस दुर्ग के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि कुतुबशाही

वंश के शक्तिशाली राज्य में एक शताब्दी से अधिक काल तक यह दुर्ग वैभव सम्पन्न रहा। मुगल सम्राट अकबर ने १५६६ ई० में गोलकुण्डा के सुलतान के पास दूत भेजे कि दिल्ली की आधीनता स्वीकार करलो परन्तु उसने कोई उत्तर नहीं दिया। सन् १५६६ ई० में अकबर ने एक बड़ी सेना लेकर दक्षिण की ओर प्रस्थान किया परन्तु गोलकुण्डा पर आक्रमण करने से पूर्व ही उसे लौटना पड़ा।

सन् १६३३ ई० में शाहजहां ने अहमदनगर पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। इस युद्ध में गोलकुण्डा के सुलतान ने भी अहमदनगर की सहायता की थी अतः उससे भी हर्जाना वसूल किया गया और सन् १६३६ ई० में उसको मुगल सम्राट की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

सुन्नी शिया का धार्मिक मतभेद—

दिल्ली के मुगल सम्राटों और दक्षिण के कुतुबशाही सुलतानों में सदैव शत्रुता बनी रही। इस शत्रुता का कारण केवल राजनैतिक प्रभुता प्राप्त करना ही नहीं था किन्तु इसका सम्बन्ध इन दोनों शाही परिवारों के धार्मिक मतभेदों से भी था। मुगल बादशाह सुन्नी मुसलमान थे और दक्षिण के सुलतान शिया मुसलमान। सुलतान, फारस के शाह को शिया मुसलमानों का पेशवा समझते थे और उसके प्रति धार्मिक भक्ति रखते थे। शाहजहां इस प्रकार के विश्वास के विरुद्ध था और वह इसे मुगल बादशाहों का अपमान समझता था। वह चाहता था कि शिया मुसलमान उसकी आधीनता स्वीकार करलें। बीजापुर के सुलतान ने शाहजहां का

आधिपत्य स्वीकार कर लिया था और वह दिल्लीपति को वार्षिक कर भी देने लगा था। परन्तु गोलकुण्डा के शाह ने ऐसा करना स्वीकार न किया। परिणाम यह हुआ कि मुगलों की सेना ने गोलकुण्डा के सारे प्रान्त को रौंद डाला। विवश होकर उसने भी दिल्लीपति की अधीनता स्वीकार करके वार्षिक कर देना स्वीकार कर लिया और तत्काल ही हरजाने के रूप में एक बड़ी धनराशि मुगल बादशाह को भेंट की।

परन्तु कुतुबशाही सुलतानों ने पुनः अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। सन् १६८७ ई० में औरङ्गजेब ने इस दुर्ग पर आक्रमण किया। उसने गोलकुण्डा के भवनों को तोड़ा क्योंकि वह किसी भी प्रकार के राग रंग को पसंद नहीं करता था। उसने अनेक समाधियां व उद्यानों को नष्ट करा दिया। उसके पश्चात् गोलकुण्डा दुर्ग का फिर कभी जीर्णोद्धार न हुआ। कहा जाता है कि दुर्ग के भीतरी भवनों का पारस्परिक सम्बन्ध भी उसी समय छिन्न भिन्न कर दिया गया। रंगमहल में नृत्य की जो कलापूर्ण व्यवस्था थी वह नष्ट करदी गई। जहां किसी समय मधुर संगीत गुंजरित हुआ करता था वहां अब भयानक स्थिति होगई है। जहां किसी समय सुगन्धित वृक्ष लहराते थे, वहां अब कांटेदार झाड़ियां उग आई हैं।

कुतुबशाही के अंतिम सुलतान अब्दुल हसन तथा मुगल बादशाह औरंगजेब के बीच लगभग आठ मास तक लड़ाई होती रही। अन्त में १६८७ में औरंगजेब ने गोलकुण्डा दुर्ग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया।

कुतुबशाही राजवंश के पतन और औरङ्गजेब की विजय के सम्बन्ध में विचार करने से पता चलता है कि कुतुबशाही जहा भोग विलास, आमोद प्रमोद और कायरता में पड गई वहा औरङ्गजेब ने दृढता, साहस तथा संयम का आश्रय लिया। इसके अतिरिक्त कुतुबशाही की पराजय का एक और भी कारण हुआ कि उसे विश्वासघात का सामना करना पड़ा।

गोलकुण्डा के अंतिम शासक सुलतान अब्दुल हसन का मंत्री अब्दुल रज्जाक लारी बडा ही योग्य, वीर और स्वामीभक्त था। ८ मास तक घेरा डाले रहने पर जब औरङ्गजेब विजयी नहीं हुआ तो उसने सुलतान के मंत्री अब्दुल रज्जाक को अपने पक्ष में कर लेने का प्रयत्न किया। औरङ्गजेब के जब सभी प्रयत्न निष्फल हो गये तो उसने स्वयं लारी को एक परवाना लिखकर भेजा जिसमें उसे ६ हजारी मंसब प्रदान करने का प्रलोभन दिया गया था। अब्दुल रज्जाक लारी ने जब यह परवाना पढा तो वह क्रोधित हो गया। परवाने को फाडकर उसने औरङ्गजेब के दूत के मुह पर मारते हुए कहा 'जाओ अपने मालिक से कह दो कि हम नमक हराम नहीं हैं। जब तक हमारे जिस्म में जान बाकी है उस वक्त तक हम मुगलो का मुकाबला करेंगे'।

औरङ्गजेब अब्दुल रज्जाक लारी के वीरतापूर्ण उत्तर को पाकर निराश हो गया परन्तु उसके हृदय में गोलकुण्डा विजय की चाह थी उसने अपने साहस को नहीं छोडा। मुगल सेना के साहस को टूटते देखकर भी वह उन्हे बराबर प्रोत्साहन देता रहा।

औरङ्गजेब ने अब्दुल रज्जाक लारी द्वारा सहायता न मिलते देखकर सुलतान के एक अन्य सरदार अब्दुल्ला खां को अपनी ओर तोड़ लिया। उस विश्वासघाती ने एक दिन अवसर पाकर दुर्ग का द्वार खोल दिया और मुगल सेना को उसमें प्रवेश करने का संदेश भी दे दिया। शाहजादा मोहम्मद आजम के नेतृत्व में मुगल सेना दुर्ग में घुस गई और उसने कुतुबशाही सेना पर अचानक आक्रमण कर दिया जिसके कारण उसमें भगदड़ मच गई। सैनिक अपने प्राण बचाने के लिये इधर उधर भागने लगे।

सुलतान अब्दुल हसन ने जब यह समाचार पाया उसका साहस टूट गया, निराश होकर वह अपने हरम में पहुंचा और उसने अपनी बेगमों से अंतिम विदा ली। इसके पश्चात वह अपने राज दरबार में एक मसनद पर जा बैठा और मुगलों के आने की प्रतीक्षा करने लगा। परन्तु उसके मंत्री अब्दुल रज्जाक लारी ने इस विषम परिस्थिति में भी मुगल सेना से युद्ध किया। वह अपने कुछ चुने हुए साथियों को लेकर घोड़े पर सवार होकर मार काट मचाता हुआ दुर्ग से बाहर की ओर चला। उसने दुर्ग से बाहर निकलने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु उसे सफलता न मिली। उसके सभी साथी मारे गये और वह स्वयं भी घायल होकर मूर्छित हो गया। औरंगजेब ने उसे उसी दशा में पकड़वा मंगाया और उसने अपने चिकित्सकों से उसकी चिकित्सा कराई। औरंगजेब लारी की वीरता, योग्यता तथा स्वामीभक्ति पर मोहित था अतः उसने लारी को छ हजारी मनसब देने की पुनः बात की परन्तु उसने फिर औरंगजेब के प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया। कहा जाता है कि जब स्वयं सुलतान

अब्दुल हसन ने उसे औरंगजेब की मनसबदारी स्वीकार कर लेने का आदेश भेजा तो वह सहमत हो गया।

जिस दरवाजे से मुगल सेना ने विश्वासघाती अब्दुला खां के संकेत पर गोलकुण्डा दुर्ग में प्रवेश किया था उसका नाम फतह दरवाजा रक्खा गया जो अब तक इसी नाम से प्रसिद्ध है।

पुरानी तोपें—

दुर्ग की रक्षा के लिये दुर्ग में ऊंचे ऊंचे सतासी त्रिकोण हैं। इन पर कुतुबशाही समय की तोपें रक्खी हुई हैं। कई तोपों के पिछले भाग नष्ट कर दिये गये हैं और कुछ में लोहे की छड़ियां ठूंस दी गई हैं। कहते हैं कि औरंगजेब की आज्ञा से इन शस्त्रों को बेकार कर दिया गया था। दुर्ग की रक्षा के लिये पश्चिमी ऊपरी भाग में एक बड़ी तोप भी लगाई गई थी जिसकी लम्बाई ३००–४०० फिट थी।

पुरानी बन्दूकें—

दुर्ग के कई कमरों में लकड़ी की बन्दूकें भी भरी पड़ी हैं। इनकी बनावट बन्दूक जैसी ही है। कहा जाता है कि इनमें बारुद जैसी किसी वस्तु का प्रयोग किया जाता था। इस समय ये बन्दूकें लकड़ी का ढेर हैं और इनकी कोई उपयोगिता दृष्टि नहीं पड़ती। परन्तु उस समय लकड़ी की ये ही बन्दूकें प्रबल प्रहार करने वाले शस्त्रों में गिनी जाती थीं। अब ये केवल बच्चों के खिलौने मात्र हैं।

स्वामी रामदास का बंदी गृह—

दुर्ग के ऊपरी भाग में एक स्थल पर हमें एक गोलाकार छेद

दिखाया गया। इसमें से झांककर देखने पर हमें एक छोटी कोठरी सी दिखाई पड़ी। इसका सम्बन्ध स्वामी रामदास से बताया गया। सन् १६७३ के आस पास स्वामी रामदास को इस कोठरी में बन्दी बनाकर रक्खा गया। इस गोल छेद के द्वारा दिन में केवल एक बार उन्हें रूखा सूखा भोजन और पानी दिया जाता था। गोलकुण्डा की अंधकारपूर्ण चट्टानों के भीतर सूर्य के प्रकाश की कुछ किरणें तथा वायु भी उनके जीवन का एक आधार थीं। स्वामी रामदास इस कोठरी में बारह वर्ष तक बन्दी रहे और उन्होंने महान से महान कष्ट और यातना सहीं।

स्वामी रामदास के सम्बन्ध में भी हमें कुछ जानने का यत्न करना चाहिये। १६७३ में कुतुबशाही काल में गोलकुण्डा के प्रधान मन्त्री मदन्ना बने। उनके भाई अक्कन्ना सेनाधिपति बनाये गये। उनका भान्जा गोपन्ना गोदावरी के पूर्व प्रदेश भद्राचलम पर राज्य के माल विभाग का अफसर नियुक्त हुआ। यही गोपन्ना, स्वामी रामदास नाम से विख्यात हुये। ये वैष्णव ब्राह्मण थे। इनके हृदय में राम की अनुपम भक्ति थी। इन्होंने बिना अनुमति लिये ही राज्यकोष से छः लाख रुपये अपने प्रिय देव की मूर्तियां, मन्दिर तथा धर्मशाला बनवाने में व्यय कर दिये। इस अपराध के कारण उन्हें गोलकुण्डा के दुर्ग में कारावास का दण्ड दिया गया।

इनके छुटकारे के सम्बन्ध में कई कथायें बताई गईं। कुछ का विश्वास है कि राम ने अपने भक्त की पुकार सुनी और वे इस अंधकार पूर्ण कोठरी से उन्हें निकालकर ले गये। कुछ का कहना है कि भगवान राम एक साधारण व्यक्ति का रूप धारण करके

वहां आये और उन्होंने कोप का पूरा रुपया सुलतान बादशाह को दे दिया और उसने स्वामी रामदास को मुक्त कर दिया ।

दुर्ग की बारादरी—

गोलकुण्डा के उत्तर पश्चिम को ओर एक मील दूर पर एक बारादरी है। यहां पर सुलतान इब्राहीम कुतुबशाह की दो हिन्दू पत्नियां भाग्यमती और तारामती के दो सुन्दर मकबरे बने हुये हैं। इनके निर्माण पर काफी धन व्यय किया गया। कहा जाता है कि औरङ्गजेब ने इन दोनों मकबरों को काफी क्षति पहुंचाई। बताया जाता है कि सुलतान ने भाग्यमती के नाम पर भाग्यनगर भी बसाया जो बाद को हैदराबाद नाम से विख्यात हुआ।

गोलकुण्डा का अंतिम सुलतान अब्दुल हसन बड़ा ही मस्त, मनचला और विषयी शासक था। वह तानाशाह नाम से भी पुकारा जाने लगा था। इसके सम्बन्ध में यह बात भी प्रसिद्ध है कि उसने बारादरी से गोलकुण्डा राज दरबार तक तार बंधवाये हुये थे। इन तारों के द्वारा बारादरी में लहराते हुए संगीत और नृत्य की मधुर ध्वनि राज दरबार में भी गूंजती थी। इन तारों पर सुन्दरियां नृत्य करती थीं और अपनी अनुपम रूप राशि बिखेरती हुई भारतीय नृत्य कला का परिचय देती थीं। वह संगीत प्रेमी था। उसके भवनों में अनेक गायिकायें रहती थीं।

हीरे माणिकों का भवन —

इस दुर्ग के सम्बन्ध में यह बात प्रसिद्ध रही है कि यहां हीरों की खान थी। राज भवनों में से एक भवन हीरे और माणिकों का

भवन कहलाता था। उसमें अनेक प्रकार के हीरे माणिक मुक्ता सुरक्षित रहते थे। यदि इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो उससे प्रगट होता है कि कुतुबशाही अपनी वैभव सम्पन्नता के लिये प्रसिद्ध रही। यद्यपि इस समय दुर्ग के किसी भी भवन में इस प्रकार के हीरे और माणिकों का कोई चिन्ह विद्यमान नहीं है परन्तु फिर भी इस दुर्ग को हीरों की खान का महत्व प्राप्त है। कहा जाता है कि इस दुर्ग में हीरों की कटाई व पालिश करने वाले कुछ ऐसे निपुण व्यक्ति रहते थे जिनके पास अन्य स्थानों से भी मूल्यवान रत्न काटने और पालिश करने के लिये आते थे।

कोहनूर हीरा—

विश्व में विख्यात कोहनूर हीरा गोलकुण्डा की भाग्यशाली खान से ही तो प्राप्त हुआ था जिसने अनेक राज मुकुटों की शोभा बढ़ाई। यह हीरा गोलकुण्डा के सुलतान ने मुगल सम्राट शाहजहां को भेंट किया। शाहजहां ने इस हीरे को अपने तख्त ताऊस में जड़वाया था।

नादिरशाह के आक्रमण तक कोहनूर हीरा मुगल बादशाहों के आधिपत्य में रहा। सन् १७३६ में नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया। नादिरशाह ने दिल्ली की खुली लूट की। उस समय के नर-संहार से दिल्ली की सड़कें और गलियां रक्तमय हो गईं। उसी समय नादिरशाह ने इस कोहनूर हीरे को भी प्राप्त कर लिया।

नादिरशाह से यह हीरा अफगान शासक के हाथ लगा।

अमीर दोस्त मोहम्मद ने इस हीरे को पंजाब के शासक महाराणा रणजीत सिंह को भेंट कर दिया। महाराणा रणजीत सिंह से यह हीरा अंग्रेजों ने प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अब यह हीरा इंगलैण्ड के राजमुकुट की शोभा बढ़ा रहा है। जिसका उपयोग अब महारानी एलिजाबेथ द्वितीय कर सकती हैं।

अब कुछ भारतीयों ने यह मांग की है कि कोहनूर हीरे को इंगलैण्ड से भारत वापिस मंगायां जाय क्योंकि यह हीरा भारत के साथ अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है।

कुतुबशाही सुलतानों के मकबरे—

बनजारी गेट के नीचे की ओर कुतुबशाही सुलतानों के अनेक मकबरे हैं। किले से ८०० गज के विस्तार में फैले हुए ये मकबरे अत्यन्त सुन्दर और अद्भुत कलापूर्ण हैं। गोलकुण्डा के अन्तिम सुल्तान तानाशाह को छोड़कर प्राय: सभी सुलतानों के मकबरे यहां पर बनाये गये। तानाशाह की पुत्री का एक दर्शनीय मकबरा भी इनमें सम्मिलित है। इन कब्रों में सबसे पुरानी कब्र १५४३ ई० से भी पूर्व की बनी हुई है। इसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि सुलतान कुली शाह ने अपनी मृत्यु से पूर्व इसको निर्माण कराया था। अपने जीवन में अपने लिये कब्र बनवाने की चाह अनेक मुसलिम शासकों के हृदय में रही। इसका कारण यही जान पड़ता है कि इनको यह विश्वास रहा हो कि उनके मरने पर उनके वंशज न जाने किस प्रकार से उन्हें कब्र में रखा दें।

इन मकबरों में से कुछ में संगमरमर का प्रयोग किया गया है।

संगमरमर पर शिल्प कला के अनेक चित्ताकर्षक तथा उत्कृष्ठ नमूने विद्यमान हैं।

फांसी घर—

दुर्ग में एक स्थान पर हमें फासीघर दिखाया गया। यह एक अंधकार पूर्ण कोठरी थी। इस कोठरी में एक स्थान पर लकड़ी की एक कड़ी लगी हुई थी। कहा जाता है कि इस स्थान पर अपराधियों को फासी दी जाती थी। अपराधी का सिर इस कड़ी के नीचे फसा दिया जाता था और फिर उसे कोठरी के बीच के भाग में लटकाकर छोड़ दिया जाता था। इस प्रकार तड़प तड़पकर अपराधी अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता था। न जाने इस प्रकार से इस फासीघर में कितने व्यक्तियों ने अपने जीवन की भेंट चढ़ाई होगी।

झील तथा जलाशय—

दुर्ग में कई झील तथा जलाशय भी हैं। यहा की एक झील काफी विस्तार में है। कहा जाता है कि इस झील को सुलतान शाही के समय कृत्रिम रूप में बनाया गया था। इसके तट पर किसी समय मधुर संगीत की स्वर लहरी गूंजा करती थी। सुलतान तथा उनकी बेगमें इस झील में विहार करने और संगीत द्वारा अपना मन बहलाने के लिये आया करते थे। परन्तु अब वैभव के दिन समाप्त हो गये। अब इस झील के तट पर धोबियों ने अपना घाट बना लिया है। अब इसके तट पर धोबी, धोबिनों का ही स्वर सुनाई पड़ता है।

यहा के जलाशयों का भी अब कोई प्रयोग नहीं हो रहा है।

उनके समीप कीचड़, दलदल, जंगली वनस्पतियां तथा कटीली झाड़ियां ही दृष्टि पड़ती हैं। सच बात तो यह है कि जिन वस्तुओं को मानव अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये निर्माण करता है, वे ही वस्तुयें मानव के अभाव में बीहड़ता का रूप धारण कर लेती हैं। जब इस दुर्ग में सहस्त्रों व्यक्ति जहां तहां निवास करते थे, तभी इन जलाशयों तथा झीलों का महत्व था और अब ये सब मनुष्यों के अभाव में दीन अनाथों की स्थिति में नष्ट प्रायः से हो रहे हैं।

विशाल महल—

दुर्ग की सबसे ऊंची चोटी पर सुलतान द्वारा निर्मित एक विशाल महल है। किसी समय यह महल ही यहां का सुन्दरतम दर्शनीय भवन था। यद्यपि सुलतानों ने इसे अपने आमोद प्रमोद तथा अपनी सुरक्षा का सर्वोत्कृष्ट भवन समझा था परन्तु समय के परिवर्तन ने इस बात को सिद्ध कर दिया कि सुन्दरतम भवन भी समय से टकराकर निर्जन वन के तुल्य हो जाते हैं। अब इन भवनों को कभी कभी यात्रिगण ही अवलोकन कर लेते हैं। जहां किसी समय बेगमों का कोमल स्वर शब्द करता था, वहां अब वायु की सांय सांय करने वाली ध्वनि ही सुनाई पड़ती है। न जाने वायु के प्रबल झोंकों ने सुलतानों के वैभव और कीर्ति को कहां उड़ा दिया। महल की ऊपरी छत से समूचे दुर्ग तथा गोलकुण्डा बस्ती का सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता है। परन्तु गोलकुण्डा बस्ती में भी अब वह चहल पहल नहीं जो सुलतानों के समय में थी। अब तो गोलकुण्डा की बस्ती एक प्रकार से निर्धन बस्ती हो गई है।

अन्य महल—

इस विशाल महल से नीचे उतर कर हम एक विशाल प्रांगण में पहुँचे । इसके एक ओर कई विशाल-भवन बने हुये हैं। ये सुलतानों की बेगमों के महल कहलाते हैं। इन महलों का पुराना वैभव समाप्त हो चुका है। अब इनको प्रयोग करने वाला कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टि नहीं पड़ता जो इनके वैभव को फिर से चमका दे। इन महलों में सुलतान शाही के समय की टूटी फूटी युद्ध सामग्री भरी पड़ी है, जिसका इस समय कोई उपयोग नहीं।

निर्माण कला —

दुर्ग की निर्माण कला के सम्बन्ध में यह बात स्पष्ट है कि यह हिन्दू निर्माण कला से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखती। इसका मुख्य कारण यह है कि गोलकुण्डा दुर्ग का निर्माण सुलतान शाही के काल में हुआ। भारत के जिन दुर्गों का निर्माण मुस्लिम काल से पूर्व हुआ उनमें अभी तक हिन्दू स्थापत्य कला की अनेक प्राचीन वस्तुयें प्राप्त होती हैं। परन्तु इस दुर्ग का विशेष सम्बन्ध मुस्लिम काल तथा मुस्लिम शासनाधिकारियों से ही रहा। उन्होंने दक्षिण की स्थापत्य-कला तथा अपनी नवीन शैली के आधार पर इस दुर्ग का निर्माण कराया।

इस दुर्ग के भवनों में मजबूती तथा सादगी को विशेष स्थान दिया गया है। दुर्ग की प्राचीरों को सुदृढ़ पत्थरों से तैयार कराया गया जिससे शत्रुओं की तोपों के गोले सहज ही अपना प्रभाव न कर सकें। इसी दृष्टि से मुख्य राज-भवनों का भी निर्माण

हुआ। इनकी प्राचीर भी सुदृढ़ पत्थरों से तैयार की गई हैं। तोपों की बुर्जें अभी तक सुरक्षित हैं।

हिन्दुत्व के चिन्हों का अभाव—

इस दुर्ग का सम्बन्ध हिन्दू शासनाधिकारियों से कभी नहीं रहा। स्वामी रामदास के इस दुर्ग में बन्दी रक्खे जाने की घटना के अतिरिक्त और कोई महत्वपूर्ण घटना इस दुर्ग से सम्बन्धित नहीं बताई गई। यही कारण है कि इस दुर्ग में हिन्दुत्व के कोई चिन्ह विद्यमान नहीं। न हिन्दू-काल का कोई निर्माण कार्य ही इस दुर्ग में कभी हो पाया।

दक्षिण में मराठा शक्ति—

गोलकुण्डा दुर्ग का विवरण देते समय हमें दक्षिण भारत की मराठा शक्ति का भी उल्लेख करना चाहिये क्योंकि दक्षिण के राज्य शासन पर मराठा शक्ति का एक गहरा प्रभाव पड़ा था।

जिस समय औरंगजेब ने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया उस समय मराठा वीर, शिवाजी की ख्याति फैल चुकी थी। शिवाजी के पिता शाह जी भोंसला यद्यपि बीजापुर राज्य में नौकर थे परन्तु शिवाजी ने अपनी बुद्धिमत्ता और वीरता के बल पर दक्षिण में एक ऐसी मराठा शक्ति को जन्म दिया जिसने मुसलमानों का डटकर विरोध किया। शिवाजी ने दक्षिण भारत में अपना एक छोटा स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। इसके पश्चात् उन्होंने बीजापुर सुलतान के कई दुर्ग छीन लिये। शिवाजी ने जावली, रायगढ़ तथा कोंकण पर आक्रमण किया और उनपर अपना अधिकार कर लिया।

इन विजयों के पश्चात् शिवाजी का इतना साहस बढ़ा कि उस ने बीजापुर तथा गोलकुण्डा पर भी आक्रमण किये परन्तु इन दोनों राज्यों के शासनाधिकारियों ने शिवाजी से मैत्री स्थापित कर ली। अतः शिवाजी ने गोलकुण्डा दुर्ग पर आक्रमण करने का कोई प्रयत्न न किया।

दक्षिण की निजाम शाही—

दक्षिण के अहमदनगर राज्य में निजाम शाही स्थापित हुई थी। मुगलों के पतन के पश्चात् निजाम शाही का विस्तार हुआ। यहां तक कि गोलकुण्डा की कुतुबशाही भी निजाम शाही में परिवर्तित हो गई। गोलकुण्डा का दुर्ग निजाम शाही के आधीन हो गया।

दक्षिण की निजाम शाही की प्रसिद्धि गोलकुण्डा दुर्ग के कारण बढ़ी। उस समय हैदराबाद एक साधारण बस्ती थी। गोलकुण्डा नगर का व्यापार तथा उसकी जनसंख्या हैदराबाद की अपेक्षा कहीं अधिक थी। निजामों ने हैदराबाद को अपनी राजधानी बना कर उसकी उन्नति की ओर अपना विशेष ध्यान लगाया।

इतिहास इस बात को प्रगट करता है कि औरंगजेब के जीवित रहने तक दक्षिण में कभी शान्ति स्थापित न हो पाई। मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात दक्षिण में निजाम शाही की शक्ति बहुत बढ़ गई। इन्होंने हैदराबाद में अनेक विशाल भवन निर्माण कराये। इनके महल आज भी अपने वैभव को प्रगट कर रहे हैं। निजाम शाही के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि अंग्रेजों

शासन काल में भी अंग्रेजों ने निजाम को अधिक से अधिक प्रोत्सा-हन दिया। दूसरे निजाम राज्य की आर्थिक स्थिति सदैव संतोषजनक रही। देखा जाय तो भारत की रियासतों में निजाम राज्य सबसे अधिक धनशाली राज्य माना गया है। स्वयं निजाम के पास करोड़ों रुपये के हीरे जवाहरात रहे हैं। निजाम ने अपने राज्य को उन्नत करने का सदैव प्रयत्न किया परन्तु कुछ धर्मान्ध मुस्लिमों, मौलानाओं ने उसे साम्प्रदायिक बना डाला। जिसके कारण प्रजा में काफी असन्तोष फैला।

दक्षिण में उर्दू की उन्नति—

गोलकुण्डा राज्य की भाषा के सम्बन्ध में यह बात उल्लेखनीय है कि सत्रहवीं शताब्दि में दक्षिण के बीजापुर तथा गोलकुण्डा राज्यों में उर्दू भाषा की अधिक उन्नति हुई। औरंगाबाद (दक्षिण) के उर्दू शायर (कवि) वली ने उस समय बड़ी ख्याति प्राप्त की। वैसे मुख्य रूप से सारे दक्षिण में उस समय संस्कृत मिश्रित मराठी भाषा का ही प्रचलन था और वहीं वहां की जनता की मुख्य भाषा थी। इतिहासकारों का कहना है कि सुलतान कुतुबशाह स्वयं मराठी भाषा का एक अच्छा कवि था। उसे साहित्य से बड़ा प्रेम था।

रजाकारों का केन्द्र—

भारतीय स्वतन्त्रता की स्थापना के उपरान्त हैदराबाद तथा उसके समीप का विस्तृत क्षेत्र रजाकारों की गतिविधि का एक केन्द्र बन गया था। कासिम रिजवी ने रजाकारों का एक ऐसा संगठन स्थापित किया जिसने न केवल हैदराबाद के हिन्दुओं को आतंकित
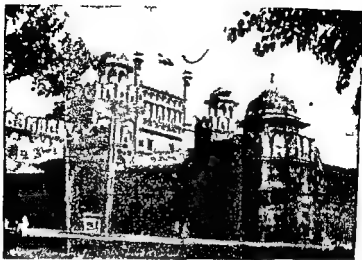
किले का बाहरी दृश्य

रंग महल का कमल फव्वारा

तख्त ताउस का स्मृति स्थान
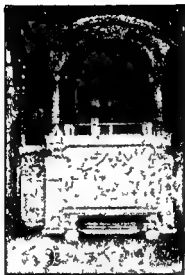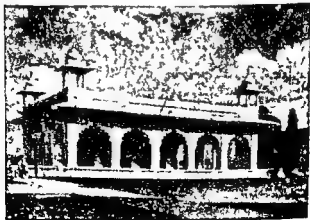
दीवानेखास का एक दृश्य

लाल किला दिल्ली

यमुना नदी के तट पर भारत की प्राचीन वैभवशालिनी नगरी दिल्ली में मुगल बादशाह शाहजहां ने अपने राजमहल के रूप में लाल किले का निर्माण कराया। इससे पूर्व आगरे का प्रसिद्ध दुर्ग मुगल वंशीय बादशाहों द्वारा निर्मित हो चुका था परन्तु शाहजहां ने दिल्ली नगरी में मुख्य रूप से निवास करने की दृष्टि से सन १६३८ में लाल किले के निर्माण का कार्य प्रारम्भ कराया। यह कार्य लगभग १० वर्षों तक चलता रहा।

राज्य भवनों के वैभव और सौंदर्य की दृष्टि से यह किला भारत में विशेष ख्याति रखता है। जिस समय मुगल साम्राज्य अपने यौवन के उभार में था उस समय शाहजहां जैसे भव्य भवनों के निर्माता ने इस दुर्ग में सुन्दर से सुन्दर भवन बनवाने में अपनी शक्ति लगाई।

कहा जाता है जब मुगल सम्राट शाहजहां का मन आगरे में न लगा उस समय उसने यमुना तट दिल्ली में शाहजहांनाबाद नाम से एक नगरी बसाई और वहीं पर लाल किला नाम से एक विशाल राजमहल का निर्माण कराया। उस राज महल को सुरक्षित करने के लिये उसके चारों ओर लाल पत्थर की सुदृढ़ प्राचीर बनवाई गई और इस प्रकार इस राजमहल ने भारत की राजधानी दिल्ली में एक विशाल किले का रूप धारण कर लिया।

मुमताज बेगम का महल—

जिस भवन में इस समय संग्रहालय (म्यूजियम) है वह मुमताज बेगम का महल कहलाता था। इस संग्रहालय में मुगल बादशाहों के बहुत से शस्त्र, उनकी अनेक पोशाकें, विविध चित्र तथा अन्य प्रकार की बहुत सी सामग्री सुरक्षित है।

रंग महल—

इसके निकट ही शाहजहां ने 'रंग महल' बनवाया था। शाहजहां ने इसकी छतों को सोने चांदी के फूलों से सुसज्जित कराया था। इसी में उसने 'कमल फव्वारा' भी निर्मित कराया था जिसमें यमुना का पवित्र शीतल जल बेगमों और शाही परिवार के साथ किसी समय उछल उछलकर क्रीड़ा किया करता था। इस फव्वारे का निर्माण संगमरमर द्वारा कराया गया था।

रंग महल में बेगमों के स्नान के लिये एक सुन्दर हमाम (स्नानागार) भी बनवाया गया था जिसमें सुगंधित इत्र और सुगंधित जल की सुगंधि महका करती थी। इस रंग महल में बेगमों के साज-शृंगार की प्रत्येक सामग्री विद्यमान रहती थी। रंग महल में बेगमों को मनोविनोद की सभी वस्तुयें प्राप्य थीं।

हाथियों का युद्ध—

रंग महल के दूसरी ओर के मैदान में मुगल काल में हाथियों का युद्ध हुवा करता था। बादशाह और उसकी बेगमें उसे देखने के लिये वहां बैठा करती थीं।

महल खास—

इस मैदान के समीप यही बादशाह का 'महल खास था' इस महल की उत्तरी दीवार में आइने जड़े हुये थे। यह बादशाह का निजी भवन था। इसकी सुन्दरता व सजावट भी किसी समय प्रशंसनीय रही होगी।

दीवाने खास—

महल खास के पीछे 'दीवाने खास' बनाया गया था। लाल किले के समस्त भवनों में यह भवन अपनी कला का अनोखा नमूना समझा जाता है। इसे ऊंचे स्थान पर संगमरमर से बनवाया गया है। इसमें दूसरे मूल्यवान पत्थरों की भी अधिकता है। इस भवन में बत्तीस स्तम्भ हैं जिन पर सुन्दर पच्चीकारी का काम किया गया है। इसकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर एक फारसी कवि ने लिखा है—"पृथ्वी पर यदि कहीं स्वर्ग है तो यहीं पर है"।

दीवानेखास में स्फटिक पत्थर की एक बड़ी शिला है। इस शिला पर बादशाह का नाम प्रसिद्ध 'मयूरसिंहासन' रक्खा रहता था जिसे सन् १७३९ में नादिरशाह दिल्ली की लूट के माल के साथ फारस ले गया।

दीवाने खास में ही दोपहर के समय बादशाह विश्राम किया करते थे और यहीं पर वे अपने सलाहकारों के साथ मंत्रणा भी करते थे। इस मंत्रणा में केवल वे ही व्यक्ति भाग लेते थे जिनपर बादशाह का पूरा विश्वास होता था। सायंकाल के समय इसी स्थान पर अदालत भी बैठती थी।

रनिवास का विनाश—

शाहजहां की वेगमों के रनिवास को अंग्रेजों ने तोड़फोड़ कर सैनिकों के लिये प्रयुक्त किया। सबसे पहिले इन रनिवासों को नादिरशाह बादशाह ने लुटवाया। इसके पश्चात् अंग्रेजों ने रही सही सम्पत्ति भी लूट कराई। अंग्रेज सेनापतियों ने इस किले को सेना का सुरक्षित स्थान बनाकर, इसका प्रयोग किया।

वाटिकायें—

रनिवास के समीप चार सुन्दर सुन्दर वाटिकायें भी थीं। इनके अतिरिक्त क़िले में कुछ और वाटिकायें भी थीं। इन वाटिकाओं में झरनों, जलाशयों का भी किसी समय प्रबन्ध किया गया था।

मोती मस्जिद—

दीवाने ख़ास में से एक मार्ग मोती मस्जिद की ओर जाता है। सन् १६५० में औरंगज़ेब ने इस मस्जिद को बनवाया था। वह इसमें नमाज पढ़ता था।

तोपों की व्यवस्था—

लाल क़िले की बाहरी चारदीवारी में तोपों के लगाये जाने की व्यवस्था थी। जिस मुगलकाल में यह दुर्ग निर्माण किया गया, उस समय भारत में तलवार और तोप गोले ही सब से बड़े शस्त्र समझे जाते थे। अतः तोपों की व्यवस्था उस समय सब से बड़ी सुरक्षा समझी जाती थी। लाल क़िले में तोपों के चलाये जाने के लिये जो बड़े बड़े छेद बनाये गये थे, वे अभी तक सुरक्षित दिखाई पड़ते हैं।

दुर्ग की सुरक्षा के लिये इसमें चारो ओर खाई की भी व्यवस्था की गई थी। मुख्य द्वार पर दुर्ग रक्षक रहा करते थे और शेष भाग मे गहरी खाई में जल भरा रहता था परन्तु समय के परिवर्तन से अब इसकी सुरक्षा का स्वरूप ही बदल गया। इस अणुबम के युग मे तोपों की कौन गणना करता है।

निर्माण कला—

यद्यपि मुगल सम्राट शाहजहां ने इस किले का निर्माण कराया था। उसके समय के भवनों में मुगल-कला का प्रचलन हो चुका था। आगरा के दुर्ग के समान लाल किले के दीवाने आम और दीवाने खास में भी मुस्लिम कला का पूर्ण प्रभाव प्रगट हो रहा है परन्तु फिर भी इन दुर्गों में भारतीय कला का पुट काफी मात्रा में दिया गया है। बाहरी रूप रेखा से ये दुर्ग इस्लामी कला के प्रतीक प्रतीत होते हैं परन्तु आन्तरिक रूप में इनके निर्माण मे भारतीय कला की झलक दिखाई पड़ती है। 'कमल फव्वारे' का निर्माण भारतीय कला का एक उत्कृष्ट नमूना है।

ऐतिहासिक तथ्य—

शाहजहां के जीवन काल में ही मुगल सम्राट औरंगजेब ने लाल किले पर अपना अधिकार कर लिया था जबकि उसने अपने पिता शाहजहां को आगरा दुर्ग में बंदी कर दिया था और सन् १६५८ में दिल्ली आकर विधिवत अपना राज्याभिषेक किया। औरंगजेब ने राज्याभिषेक के अवसर पर 'अबुल मुजफ्फर मुईन उद्दीन मोहम्मद औरंगजेब बादशाह गाजी' की उपाधि धारण की।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् कई मुगल वंशीय बादशाह ने दिल्ली पर अपना अधिकार रक्खा परन्तु वे बहुत थोड़े ही समय तक शासन कर पाये।

सन् १७१६ में मौहम्मदशाह दिल्ली का सम्राट बनाया गया। उसमें शासन चलाने की कोई विशेष योग्यता न थी। वह एक प्रकार से विवेकहीन शासक था। उसकी सेना में किसी प्रकार का नियंत्रण न था और वह किसी बाहरी आक्रमण की रोकथाम करने की क्षमता भी नहीं रखती थी। ऐसी स्थिति में ईरान के शासक नादिरशाह ने सन् १७३६ में भारत पर आक्रमण कर दिया। नादिरशाह ने यद्यपि अपना आधिपत्य एक साधारण लुटेरे के रूप में स्थापित किया था परन्तु उधर भारत में एकता का अभाव हो चला था अतः उसे भारत में बढ़ने का समुचित अवसर प्राप्त हो गया। उस समय मुगल शासकों ने अपनी सीमा की सुरक्षा का समुचित प्रबन्ध नहीं किया हुआ था अतः नादिरशाह पेशावर तथा लाहौर पर आसानी से विजयी हो गया।

मौहम्मद शाह ने अपने मंत्री निजामुल मुल्क को नादिरशाह का सामना करने के लिये भेजा परन्तु उसकी अस्तव्यस्त सेना पराजित हो गई और इस प्रकार नादिरशाह दिल्ली नगर में घुस आया। उसने अपना निवास 'दीवाने खास' में बनाया। इसके पश्चात् उसने दिल्ली में लगातार पांच घंटे तक 'कत्ले आम' कराया। इतिहासकारों का कहना है कि वह यहां से १५ करोड़ रुपया, असंख्य हीरे जवाहरात कोहनूर हीरे सहित, शाहजहां का तख्‌-

ताऊस (म्यूर सिंहासन) १० हजार घोड़े, १० हजार ऊँट तथा ८०० हाथी लेकर ईरान वापिस चला गया। इस आक्रमण से मुगल साम्राज्य की आर्थिक स्थिति बिगड़ गई। राज-कोष रिक्त हो गया और सैनिक शक्ति भी घट गई। उसी समय लाल किले का वैभव, उसकी राज्यश्री भी क्षीण हो गई।

उस अराजकता और शक्तिहीनता के समय में अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली ने भी भारत पर आक्रमण किये। उसने सन् १७४८ और १७६१ के बीच में भारत पर सात बार आक्रमण किये। इन आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि मुगलों की रही सही शक्ति का भी विनाश हो गया। ऐसी दशा में दिल्ली पर केवल मुगल शासकों का ही अधिकार न रह गया था किन्तु कभी मराठे और कभी रुहेले अफगान इस पर अपना अधिकार कर लेते थे। इस प्रकार इस काल में लाल किले का गौरव भी स्थिर न रह सका। दशा यहां तक बिगड़ी कि मुगल सम्राट शाह आलम द्वितीय ने सन् १७६४ में अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया और वह उनकी शरण में आ गया। उस काल में लालकिला और पुराना दुर्ग दोनों ह सैनिक गतिविधि के केन्द्र बने रहे।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में १८०६ में अंग्रेजों ने लाल किले पर अपना अधिकार कर लिया। उस समय शाहआलम द्वितीय की मृत्यु हो चुकी थी और अकबर द्वितीय मुगल शासक बन गया था।

इसके पश्चात् बहादुरशाह ने मुगल गद्दी को संभाला और

वह लाल किले में रहने लगा। परन्तु वह एक प्रकार से अंग्रेजों के आधीन था।

जिस समय १८५७ का विद्रोह प्रारम्भ हुआ तो बहादुरशाह सम्राट घोषित किया गया और उसकी बेगम जीनतमहल को भारत की सम्राज्ञी कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु अंग्रेजों की सेनाओं ने धीरे धीरे दिल्ली के विद्रोह को दबा दिया, बहादुरशाह अवसर पाकर हिमायूं के मकबरे में जा छिपा। इलाही बख्स मिर्जा ने जो उस समय अंग्रेजों से मिला हुआ था, बहादुरशाह को प्रेरणा की कि वह अंग्रेजों के सम्मुख आत्मसमर्पण करदे। उसने इलाही बख्श मिर्जा की बात को स्वीकार कर के कैप्टिन हडसन के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। हडसन ने बहादुरशाह के पुत्र नख्तया तथा अन्य दो पुत्रों को नंगा करके गोली से भून दिया। कहा जाता है कि उसने अपनी इस विजय पर मस्त होकर उनका रक्त-पान किया।

मुगलों की इस पराजय के पश्चात् अब यह किला अंग्रेजों के पूर्ण आधिपत्य में आ गया। उन्होंने इसे अपनी सेना का मुख्य केन्द्र बना दिया।

इंगलैण्ड में १८५७ के विद्रोह का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर रक्खा गया। अतः कम्पनी का अन्त कर दिया गया। शासन का सम्पूर्ण अधिकार इंगलैण्ड की महारानी विक्टोरिया ने अपने हाथ में ले लिया। इसके पश्चात् १८५८ में एक दरबार किया गया और उसमें लार्ड कैनिङ्ग ने महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र पढ़ा। इसके पश्चात् भारत में सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गई।

१६११ ई० में इस लाल किले के भाग्य फिर जागे जब भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की पूर्ण छाप लगाने के लिये इंगलैण्ड के सम्राट जार्ज पंचम का दिल्ली में राज्याभिषेक हुआ। उस समय बादशाह जार्ज पंचम ने अपनी रानी मेरी के साथ किले के एक सुन्दर सुसज्जित स्थान पर खड़े होकर जनता को दर्शन दिये।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि लाल किले में अन्तिम मुगल बादशाह बहादुर शाह के अभियोग की सुनवाई हुई थी। जिस समय मई १८५७ की महान क्रान्ति (विद्रोह) प्रारम्भ हुई उस समय मेरठ से कुछ सेनाएं बहादुर शाह की सेनाओं के साथ मिलकर अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालने के लिये दिल्ली आई थीं। इस विप्लव के शान्त हो जाने पर जब अंग्रेजों ने दिल्ली पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया उस समय बहादुर शाह को उन्होंने नजर बन्द कर दिया। जनवरी सन् १८५८ में बहादुर शाह के विरुद्ध ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने निम्न आशय का अभियोग लगाया।

१–कि उसने, भारत में अंग्रेजी सरकार से पेंशन प्राप्त करते हुये भी, दिल्ली में १० मई से १ अक्तूबर १८५७ तक विभिन्न अवसरों पर पैदल सेना के सूबेदार मुहम्मद बख्त खां व अन्य अधिकारियों तथा सैनिकों को अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये प्रोत्साहित किया व सहायता दी।

२–कि उसने दिल्ली में १० मई से १ अक्तूबर १८५७ के बीच विभिन्न अवसरों पर अपने ही पुत्र मिर्जा मुगल तथा दिल्ली व उत्तर

पश्चिमी सीमा प्रान्त के अन्य निवासियों को सरकार के विरुद्ध युद्ध करने के लिये भड़काया और सहायता दी।

३-कि उसने, भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की प्रजा होते हुये तथा अपने कर्त्तव्य को न निभाते हुये, ११ मई सन् १८५७ व उसके आसपास, शासन के विरुद्ध गद्दार के रूप में अपने को भारत का बादशाह घोषित किया तथा उसी समय दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया। साथ ही १० मई से १ अक्तूबर १८५७ के बीच में अपने पुत्र मिर्जा मुगल व सूबेदार मुहम्मद बख्त खां के साथ शासन के विरुद्ध लड़ाई व विद्रोह करने की मंत्रणा की तथा चौथ (लगान) वसूल किया और अंग्रेजी साम्राज्य को उलट फेंकने के लिये दिल्ली में हथियार बन्द फौजें इकट्ठी कीं तथा उनको सरकार के विरुद्ध लड़ने के लिये भेजा।

४-कि दिल्ली में १६ मई १८५७ और उसके आसपास राज महल की सीमा में ४६ अंग्रेज स्त्री बच्चों का जो कत्ल हुआ उसमें उसका हाथ रहा उसने १० मई और १ अक्तूबर के बीच समय समय पर ऐसी आज्ञायें जारी कीं कि जिनके द्वारा भारत में जहां कहीं भी अंग्रेज स्त्री बच्चे तथा ईसाई रहते थे उन्हें अमानुषिक रूप से वध किया जाय और इस अवधि में ऐसे कार्यों को उसकी आज्ञाओं से प्रोत्साहन मिला। इस प्रकार के जुर्म भारत की विधान परिषद के १८५७ के एक्ट १६ के अधीन लगाये गये थे।

बहादुरशाह की ओर से इन सब आरोपों का विस्तृत उत्तर दिया गया जिसका सारांश इस प्रकार है—

मुझे इस विद्रोह का उस समय तक कोई ज्ञान नहीं था जब

तक कि मेरठ से कुछ सैनिकों ने आकर यह न कहा, कि हमने मेरठ में वहां के समस्त अंग्रेजों का वध कर दिया है। यह बात उन सैनिकों ने उसके महल के समीप आकर कही और उन्होंने यह भी कहा कि यह विद्रोह उन्होंने इसलिये किया है कि जो कारतूस उन्हें चलाने के लिये दिये गये उनमें गाय की चर्बी का प्रयोग किया गया था और चलाते समय कारतूस दांतों से काटने पड़ते थे। मैंने यह शोर सुनने पर महल के सभी द्वार बन्द करा दिये और राज महल की सेना के उच्चाधिकारी को तत्काल बुलवाया। उस समय मैंने इन विद्रोही सैनिकों को प्रेरणा की कि वे वापिस चले जायें और मेरे सेनापति ने शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया। उसी समय दो अंग्रेज महिलायें आई जिन्हें महल में शरण दी गई। मेरे सैनिकों के व्यवस्था स्थापित करने से पूर्व कुछ अंग्रेज महिलाओं का वध कर दिया गया। इसी समय महल के दीवाने खास में विद्रोही एक बड़ी संख्या में एकत्रित हो गये और मैंने उनसे उनका उद्देश्य पूछा और उन्हें वहां से चुपचाप चले जाने की प्रेरणा की। उन्होंने मुझसे कहा कि आप चुपचाप रहें और हमारे कार्य को ऐसे ही चलने दें क्योंकि हमने अपने जीवन को देश पर समर्पित कर दिया है। जब मैंने यह देखा कि मेरे जीवन के लिये भी खतरा है तो मैं वहां से अपने निजी महल को चला गया।

कुछ समय पश्चात् विद्रोही कुछ अंग्रेजों को बन्दी करके लाये जिनका वे वध करना चाहते थे परन्तु मैंने रोका। एक दो बार मेरे कहने पर वे ऐसा करने से रुक गये परन्तु उसके पश्चात् उन्होंने उन को मार डाला। इस वध से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था।

मिर्जा मुगल, मिर्जा खैर सुलतान, मिर्जा अबुलबकर तथा बसन्त, इन चारों ने मेरे नाम का उपयोग किया होगा परन्तु मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं। मैंने मि० फ्रेजर व सेनापति के वध किये जाने की न कोई आज्ञा दी और न मुझे उस वध का कोई पता चला। आगे उन्होंने अपने बयान में कहा है कि जब मिर्जा मुगल, उनके साथी तथा कुछ विद्रोही क्रोध में भरे हुये उसके पास आये तो उन्होंने कहा कि हम मिर्जा मुगल को सेनापति बना देना चाहते हैं। मैंने इसे स्वीकार नहीं किया, मिर्जा मुगल अपनी मां के पास महल में पहुँच गया और वहां भी उसने यही जिद की कि वह विद्रोहियों का सेनापति बनकर लड़ेगा। जहां तक मेरी शाही मोहरों के प्रयोग का प्रश्न है मैं इतना कह सकता हूँ कि जब विद्रोहियों ने अपना आतंक स्थापित कर लिया तो उन्होंने मुझे अपने अधिकार में लेकर मेरी शाही मोहरों का प्रयोग किया और मुझ से अपनी इच्छानुसार बहुत से कागजों पर हस्ताक्षर कराये। विद्रोही समय समय पर मेरे पास ऐसे कागजात लाते रहे जिन पर हस्ताक्षर करने के लिये मुझे विवश किया गया। कभी कभी उन्होंने मुझ से ही कुछ आज्ञापत्र लिखाये। मुझ से यह भी कहा गया कि यदि तुम ऐसा न करोगे तो हम मिर्जा मुगल को ही अपना बादशाह बना देंगे। इन विद्रोहियों ने अपनी अदालत भी स्थापित करली थी जिसमें स्वयं ही ये लोग बहुत से निर्णय करते थे। विद्रोही कत्ल, लूट मार तथा लोगों को बन्दी बनाने का जो मनमाना कार्य करते रहे उसमें मेरा कोई हाथ नहीं था, मैं उनके हाथ में एक प्रकार से [illegible] बन गया था और मैंने यह इच्छा प्रगट की थी कि मैं राजपाट

से हटकर एक गरीब का सा जीवन व्यतीत करूं, मेरा विचार अजमेर शरीफ जाने का हुआ और वहां से मैं मक्का जाना चाहता था। परन्तु विद्रोहियों ने मुझे ऐसा न करने दिया। मैं उनकी लूट में कभी सम्मिलित नहीं हुआ। एक दिन उन्होंने जीनत महल को भी लूटने का प्रयत्न किया परन्तु महल के द्वारों को न खोल सकने के कारण वे सफल न हो सके।

इस मुकदमें में जो मिलिटरी कोर्ट बैठा था उसमें लेफ्टीनेंट करनल डास प्रधान, मेजर पामर, मेजर रैटमंड, मेजर सायर्स तथा कैप्टेन राथने थे। जेम्स मरफी ने दुभाषिया का कार्य किया तथा मेजर हैरियट प्रासीक्यूटर था। मौहम्मद बहादुरशाह ने अपनी पैरवी स्वयं की थी।

अदालत ने निर्णय दिया कि बहादुरशाह के विरुद्ध जो आरोप लगाये गये हैं वे सब सत्य हैं और वह उनका दोषी है। बहादुरशाह को अन्त में काले पानी की सजा देकर रंगून भेज दिया गया जहां उसकी सन् १८६८ में मृत्यु हुई।

इस प्रकार अंग्रेजों ने अपनी चालाकी से मुगल साम्राज्य की एक प्रकार से सदैव के लिये समाप्ति कर दी।

इस दुर्ग के अन्दर दूसरा ऐतिहासिक अभियोग आजाद हिन्द सेना के प्रमुख सेनापतियों के विरुद्ध चलाया गया। इसमें अंग्रेजी सरकार ने कैप्टेन शाहनवाज खां, कैप्टेन पी० के० सहगल व लेफ्टीनेंट गुरबख्श सिंह ढिल्लन के विरुद्ध निम्न आशय का अभियोग लगाया था:—

मिर्जा मुगल, मिर्जा खैर सुलतान, मिर्जा अबुलबकर तथा वसन्त, इन चारों ने मेरे नाम का उपयोग किया होगा परन्तु मुझे इसका कोई ज्ञान नहीं। मैंने मि० फ्रेजर व सेनापति के वध किये जाने की न कोई आज्ञा दी और न मुझे उस वध का कोई पता चला। आगे उन्होंने अपने बयान में कहा है कि जब मिर्जा मुगल, उनके साथी तथा कुछ विद्रोही क्रोध में भरे हुये उसके पास आये तो उन्होंने कहा कि हम मिर्जा मुगल को सेनापति बना देना चाहते हैं। मैंने इसे स्वीकार नहीं किया, मिर्जा मुगल अपनी मां के पास महल में पहुँच गया और वहां भी उसने यही जिद की कि वह विद्रोहियों का सेनापति बनकर लड़ेगा। जहां तक मेरी शाही मोहरों के प्रयोग का प्रश्न है मैं इतना कह सकता हूँ कि जब विद्रोहियों ने अपना आतंक स्थापित कर लिया तो उन्होंने मुझे अपने अधिकार में लेकर मेरी शाही मोहरों का प्रयोग किया और मुझ से अपनी इच्छानुसार बहुत से कागजों पर हस्ताक्षर कराये। विद्रोही समय समय पर मेरे पास ऐसे कागजात लाते रहे जिन पर हस्ताक्षर करने के लिये मुझे विवश किया गया। कभी कभी उन्होंने मुझ से ही कुछ आज्ञापत्र लिखाये। मुझ से यह भी कहा गया कि यदि तुम ऐसा न करोगे तो हम मिर्जा मुगल को ही अपना बादशाह बना देंगे। इन विद्रोहियों ने अपनी अदालत भी स्थापित करली थी जिसमें स्वयं ही ये लोग बहुत से निर्णय करते थे। विद्रोही कत्ल, लूट मार तथा लोगों को बन्दी बनाने का जो मनमाना कार्य करते रहे उसमें मेरा कोई हाथ नहीं था, मैं उनके हाथ में एक प्रकार से बन गया था और मैंने यह इच्छा प्रगट की थी कि मैं राजपाट

श्री भूला भाई देसाई के साथ साथ निम्न व्यक्ति भी सफाई पक्ष की ओर से पैरवी कर रहे थे ।

१. पंडित जवाहर लाल नेहरू
२. सर तेज बहादुर सप्रू
३. डा० कैलाश नाथ काटजू
४. रायबहादुर बद्री दास
५. रा० आसफ अली
६. कुंवर सर दलीप सिंह
७. बख्शी सर टेक चन्द
८. श्री पी० एन० सेन
९. श्री इन्द्र देव दुआ
१०. श्री राजेन्द्र नारायन
११. श्री श्री नारायण आंढले
१२. श्री गोविन्द सरन सिंह
१३. श्री जुगल किशोर खन्ना
१४. श्री मानक लाल एस० वकील
१५. श्री सुल्तान यार खाँ
१६. शिव कुमार शास्त्री

कैप्टेन शाहनवाज ने इस अभियोग में अपना लम्बा बयान देते हुये अपने वंश की सैनिक सेवाओं का उल्लेख किया तथा बताया कि १५ फरवरी १९४२ की रात्रि को जब हमें सिंगापुर के युद्ध में जापानियों के आगे हथियार डालने के लिये अधिकारियों के आदेश से विवश किया गया तो मुझे घोर निराशा हुई। इसी के

साथ साथ युद्ध के सामान्य नियमों के विपरीत भारतीय सैनिकों और अफसरों को ब्रिटिश सैनिकों और अफसरों से अलग कर दिया गया जिससे मेरे मन में यह भाव दृढ़ हो गया कि हम भारतीयों को घोर अंधकार में छोड़ दिया जायगा। इसके पश्चात् हम भारतीयों को जापानियों के हाथ में दे दिया गया। वहां से मैं आजाद हिन्द फौज में चला गया।

मैं यह नहीं कहता कि मैंने सम्राट के विरुद्ध युद्ध नहीं किया परन्तु मैंने ऐसा स्वतंत्र भारत की अन्तरिम सरकार की सेना, जिसने मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये युद्ध किया, के एक सैनिक होने के नाते किया और इसलिये मैंने ऐसा कोई अपराध नहीं किया जिसके लिये कोर्ट मार्शल या किसी और न्यायालय द्वारा मुकदमा हो।

जहां तक दूसरे अभियोग, हत्या में सहायता देने, का सम्बन्ध है, यदि,यह सत्य भी हो तो भी उसके लिये मैं जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता।

कैप्टेन पी० के० सहगल ने कहा कि मेरे विरुद्ध जो अभियोग लगाये गये हैं मैंने उनमें से कोई भी अपराध नहीं किया है और मेरे विरुद्ध इस न्यायालय द्वारा मुकदमे की सुनवाई अवैधानिक है।

१७ फरवरी १६४२ को सिंगापुर के फरार पार्क में लेफ्टीनेंट करनल हंट ने भारतीय सैनिकों और अधिकारियों को जापानियों के हाथ में सौंप दिया। भारतीय सेना बराबर बहादुरी के साथ युद्ध करती रही थी और उसका हमें यह फल मिला था। हमने अनुभव किया और सोचा कि ब्रिटिश सरकार ने उन सब शर्तों को तोड़

दिया है जिनके द्वारा हम ब्रिटेन के सम्राट के साथ बधे हुये थे तथा हमको समस्त जिम्मेदारियों से मुक्त कर दिया है। हम यह सोचते थे कि चू कि ब्रिटिश सरकार हमारी रक्षा करने में असमर्थ है, इसलिये हम से वह किसी प्रकार के उत्तरदायित्व की आशा नहीं कर सकती।

लेफ्टीनेंट गुरबख्श सिंह ढिल्लन ने अपनी सफाई पेश करते हुए कहा कि मैंने जो कुछ किया वह स्वाधीन भारत की अन्तरिम सरकार की नियमानुकूल बनी सेना के एक सेनिक के नाते किया और इस कारण मुझ पर किसी भी प्रकार का अभियोग नहीं लगाया जा सकता और न मेरा मुकदमा इण्डियन आर्मी एक्ट या भारत के क्रिमिनल ला के अन्तर्गत हो सकता है। इसके अतिरिक्त कोर्ट मार्शल द्वारा मेरा मुकदमा किया जाना अवैधानिक है।

इस मुकदमे म जनरल कोर्ट मार्शल ने निम्न निर्णय दिया तीनों अभियुक्तों के विरुद्ध युद्ध करने का अभियोग साबित हुआ है जिसके लिये तीनों को काले पानी की सजा दी जाय तथा तीनों के अब तक की सेवा के वेतन व भत्ते जप्त किये जाय। कोर्ट मार्शल का निर्णय तब तक मान्य नहीं माना जाता जब तक कि उसकी सम्पुष्टि (कन्फर्मेशन) न हो जाय। इस मुकदम मे सम्पुष्टि अधिकारी (कन्फर्मेशन आफिसर) भारत के प्रधान सेनापति सर आचिन्लेक थ। उन्होंने भारतीय लोकमत का आदर करते हुए तीना अभियुक्तों को प्रथम सजा अर्थात् काले पानी की सजा से मुक्त कर दिया, परन्तु दूसरी वेतन आदि जप्त किये जाने की सजा बहाल रही।

लाल किले में तीसरा ऐतिहासिक अभियोग राष्ट्र पिता महात्मा गांधी जी की हत्या का १६४८ में सुना गया। गांधी जी की हत्या ३० जनवरी १६४८ को सायंकाल ५॥ बजे बिड़ला भवन में हुई थी। गांधी जी की हत्या के मुख्य अपराधी नाथूराम गौडसे, नारायण आप्टे, विष्णु करकरे, गोपाल गौडसे दत्तात्रेय परचुरे, मदन लाल पहवा, शंकर किसतैया थे। सब मिलकर १२ व्यक्तियों के विरुद्ध यह हत्या अभियोग चलाया गया। इस अभियोग की सुनवाई न्यायाधीश श्री आत्मा चरण के सम्मुख हुई।

१० फर्वरी १६४६ को प्रातः ११॥ बजे न्यायाधीश श्री आत्मा चरण ने अपना निर्णय देते हुये श्री नाथूराम गौडसे तथा नारायण आप्टे को मृत्यु दण्ड दिया। विष्णु करकरे, गोपाल गौडसे, दत्तात्रेय परचुरे, मदन लाल पहवा चारों को आजीवन कारावास का दण्ड दिया। शंकर किसतैया को ७ वर्ष दण्ड की सिफारिश की।

अभियोग की सुनवाई के समय एस० ईडवले, गंगाधर यादव तथा सूर्यदेव शर्मा तीन व्यक्ति फरार थे। श्री विनायक दामोदर सावरकर को मुक्त कर दिया गया। बाडगे इकबाली गवाह बन जाने से मुक्त हो गया।

विद्वान न्यायाधीश ने अपने निर्णय में प्रगट किया है "नाथूराम गौडसे ने महात्मा गांधी की हत्या जान बूझकर और सोच समझकर की।"

सब अभियुक्त [illegible] उपरोक्त दण्ड दिया गया, अपना निर्णय सुनने के लिये [illegible] खड़े होते रहे। कठघरे के बाहर ले जाय

जाने से पूर्व इन सब ने 'हिन्दू धर्म की जय' 'लेकर रहेंगे पाकिस्तान-हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' के नारे भी लगाये जिनसे प्रगट होता था कि ये लोग अपनी दूसरी ही विचारधारा रखते थे।

न्यायाधीश ने इन सब को अपील करने के लिये पन्द्रह दिवस की अवधि दी। इनकी ओर से पंजाब हाईकोर्ट में अपील की गई।

दुर्ग में समय समय पर अनेक सांस्कृतिक तथा सामाजिक समारोह भी होते रहते हैं। देखा जाय तो इस समय लाल किला सैनिक केन्द्र के स्थान में भारत सरकार की अन्य गति विधियों का एक केन्द्र सा बन गया है।

२६ जनवरी को प्रति वर्ष लाल किले में गणराज्य दिवस मनाया जाता है जहां लाखों नर नारी राष्ट्रध्वजारोहण समारोह में सम्मिलित होते हैं।

१५ अगस्त को प्रति वर्ष लाखों नर नारी भारतीय स्वतन्त्रता की वर्षगांठ मनाने के लिये लाल किले के समीप एकत्रित होते हैं। आज लाल किले का सम्मान विश्व के समस्त देशों की दृष्टि में समाया हुआ है। यदि हम यह कहें कि आज लाल किले ने विश्व के ऐतिहासिक भवनों में एक प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है तो अत्युक्ति न होगी।

आज इस किले पर वायु में लहराता हुआ तिरङ्गा झण्डा प्रत्येक भारतीय के हृदय में भारत माता के प्रेम को जागृत